नई दिल्ली
रविवार, 19 जुलाई, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-39 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might — Jawaharlal Nehru

अगले चुनावों को लेकर योगी गरमाना चाहते हैं मथुरा का मामला, लेकिन न वहां, न वृंदावन में मिल रहा समर्थन 3
जब लक्ष्य साफ हो, तब प्रतिरोध के कई रास्ते 6,7

पान बरज में ही 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

'समाधान' यानी नाम बड़े, दर्शन छोटे

ए. जे. फिलिप

सुप्रीम कोर्ट अपनी इस अनूठी और कल्पनाशील पहल के लिए तारीफ का हकदार है, जिसे 'समाधान'-सुप्रीम कोर्ट एक्शन फॉर मीडिएटेड एडजुडिकेशन एंड डिस्प्यूट्स हार्मोनाइजेशन अक्रॉस नेशन- का नाम दिया गया है। यह लंबे समय तक चलने वाली मुकदमेबाजी के बजाय मध्यस्थता और आपसी सहमति से समझौतों को बढ़ावा देने की न्यायपालिका की इच्छा को दिखाता है। वैसे, एक बात गौर करने की है- अदालत प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की आकर्षक संक्षिप्त नामों की नीति से प्रभावित दिखती है।

अदालत ने 21 से 23 अगस्त तक तीन दिवसीय 'समाधान समारोह' की घोषणा की है, ताकि मध्यस्थता से सभी तरह के विवाद सुलझाए जा सकें, जिनमें कुछ बेहद संवेदनशील धार्मिक मामले भी हैं। यह भावना सराहनीय है, लेकिन सवाल यह है कि क्या सद्भावना और मध्यस्थता उन विवादों को खत्म कर सकती है जो दशकों से अनसुलझे हैं?

इतिहास कुछ और ही इशारा करता है। अयोध्या विवाद ने सुलह-समझौते के अनगिनत प्रयास देखे थे। कोशिश करने वालों में कांची के शंकराचार्य और आईपीएस अधिकारी से विद्वान बने किशोर कुणाल भी शामिल थे। कई प्रतिष्ठित लोगों ने दोनों समुदायों को स्वीकार्य फॉर्मूले तलाशने की कोशिश की, लेकिन कोई भी सफल नहीं हुआ। इसका कारण बेहद सीधा था।

एक सफल मध्यस्थता के लिए ऐसे अधिकृत प्रतिनिधियों की जरूरत होती है जो कोई ऐसा समझौता कर सकें जिसे पूरा समाज मानने को बाध्य हो। न तो हिन्दुओं और न ही मुस्लिमों के पास कोई ऐसा एक संगठन है जिसे सब की ओर से बातचीत करने का अधिकार प्राप्त हो। किसी भी व्यक्ति या संस्था पर, जो एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता, तुरंत ही दूसरे पक्ष के सामने बहुत ज्यादा झुक जाने का आरोप लग जाता। बातचीत करने वालों के पास कोई गारंटी नहीं थी कि उनका अपना समुदाय ऐसे किसी समझौते का सम्मान करेगा। इस जमीनी हकीकत को देखते हुए, पीछे हट जाना ही समझदारी माना गया।

अंततः, सुप्रीम कोर्ट को ही अयोध्या विवाद पर फैसला करना पड़ा।

जब नवंबर 2019 में फैसला सुनाया गया, तो पूरे देश में एक गजब की शांति थी। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि दोनों समुदायों ने दशकों की मुकदमेबाजी के बाद खुद को अदालती फैसले के लिए मानसिक रूप से तैयार कर लिया था। इस फैसले का सर्वसम्मत होना, व्यापक सुरक्षा इंतजाम, शांति की बार-बार की गई अपीलें और आम तौर पर यह स्वीकार कर लेना कि देश की सर्वोच्च अदालत ने अपना फैसला दे दिया है, इन सबने बड़े पैमाने पर अशांति को रोकने में मदद की।

इस संविधान पीठ में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई और न्यायमूर्ति एस. ए. बोबडे, डी. वाई. चंद्रचूड़, अशोक भूषण और एस. अब्दुल नजीर शामिल थे। दिलचस्प बात यह है कि इस फैसले में हिन्दू पक्ष के साक्ष्यों के दावों में कमजोरियों को स्वीकार किया गया था, और साथ ही यह भी दर्ज किया गया था कि 1992 में बाबरी मस्जिद का विध्वंस कानून के शासन का गंभीर उल्लंघन था। अदालत ने यह भी माना कि मुसलमानों को गैर-कानूनी तरीके से उनकी मस्जिद से अलग किया गया था।

इसके बावजूद, ऐतिहासिक साक्ष्यों की समग्रता और भगवान राम के जन्मस्थान को लेकर हिन्दुओं की आस्था को ध्यान में रखते हुए, न्यायाधीशों ने पूरी विवादित भूमि राम मंदिर निर्माण के लिए सौंप दी और निर्देश दिया कि मस्जिद के लिए कहीं और पांच एकड़ जमीन आवंटित की जाए। दूसरे शब्दों में कहें तो अदालत ने वही किया जो अदालतों से उम्मीद की जाती है-उसने विवाद पर फैसला सुनाया, चाहे उसके गुण-दोष कुछ भी हों।

सुलह-समझौते की कई कोशिशों के बावजूद, बाबरी मस्जिद विवाद को सुलझाने के लिए सुप्रीम कोर्ट को दखल देना पड़ा। काशी, संभल और मथुरा के विवाद 'समाधान' से खत्म हो जाएंगे, ऐसी उम्मीद करना बहुत ज्यादा आशावादी सोच है

इस मोड़ पर उपासना स्थल (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 1991 को याद करना प्रासंगिक है, जिसे पी. वी. नरसिंह राव के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार के दौरान संसद से पारित किया गया था। इस कानून ने 15 अगस्त 1947 को मौजूद हर उपासना स्थल के धार्मिक स्वरूप को फ्रीज कर दिया था, जिसमें एकमात्र अपवाद अयोध्या का था। इसने किसी भी उपासना स्थल को दूसरे में बदलने पर रोक लगा दी और किसी भी स्थल के ऐतिहासिक धार्मिक स्वरूप को बदलने की मांग करने वाली नई मुकदमेबाजी के रास्ते बंद कर दिए।

यह कानून संसद के इस पक्के इरादे को दिखाता था कि आजाद भारत को मध्यकालीन इतिहास को अंतहीन रूप से नहीं कुरेदना चाहिए। अटल बिहारी वाजपेयी और नरेन्द्र मोदी सरकारों सहित बाद की सरकारों ने भी इस कानून को किताब में बनाए रखा, संभवतः यह मानते हुए कि प्राचीन विवादों को दोबारा खोलने से सांप्रदायिक सद्भाव खतरे में पड़ जाएगा।

अयोध्या आंदोलन का नेतृत्व करने वाले संगठनों ने अक्सर यह दावा किया है कि मध्यकालीन आक्रमणों के दौरान सैकड़ों या हजारों मंदिरों को नष्ट कर दिया गया था और उनकी जगह मस्जिदें बना दी गई थीं। यदि ऐसा हर दावा मुकदमेबाजी का विषय बन जाए, तो भारत अपना भविष्य बनाने के बजाय अपनी आने वाली पीढ़ियों को अतीत की खुदाई में ही झोंक देगा।

सुप्रीम कोर्ट की 'समाधान' पहल के इरादे भले नेक हों, लेकिन काशी, मथुरा और संभल जैसे संवेदनशील धार्मिक विवादों को मध्यस्थता से सुलझाना बेहद मुश्किल है। जब आस्था और पहचान का टकराव हो, तो अदालत मुश्किल फैसलों से बच नहीं सकती और उसे कानूनी फैसला ही सुनाना होगा

अदालतें ऐसे ऐतिहासिक विवादों से भर जाएंगी जहां न्यायाधीशों से ज्यादा पुरातत्वविदों, इतिहासकारों और धर्मशास्त्रियों की जरूरत होगी। हर विवादित ढांचा सांप्रदायिक लामबंदी को अंजाम देने का केन्द्र बन सकता है। देश की ऊर्जा शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, रोजगार, बुनियादी ढांचे और वैज्ञानिक प्रगति को बेहतर बनाने से भटक जाएगी। स्वतंत्र भारत एक ऐसा राष्ट्र नहीं बन सकता जो अपनी हर कथित ऐतिहासिक गलती को सुधारने में ही स्थायी रूप से लगा रहे।

दुर्भाग्य से, 1991 का वह समझौता धीरे-धीरे बिखरने लगा है।

यह प्रक्रिया मथुरा से शुरू हुई। दिसंबर 2023 में, इलाहाबाद हाईकोर्ट ने शाही ईदगाह परिसर का अदालती निगरानी में सर्वेक्षण का आदेश दिया; सुप्रीम कोर्ट ने जनवरी 2024 में इस निर्देश पर रोक लगा दी। यह सब 1991 के अधिनियम की भावना के विपरीत दिखाई दिया। सुप्रीम कोर्ट शुरू में ही साफ कर सकता था कि अधीनस्थ अदालतों के पास उन मुद्दों को दोबारा खोलने का अधिकार क्षेत्र नहीं है जिन्हें संसद ने स्पष्ट रूप से फ्रीज कर दिया था।

ऐसा ही कुछ ज्ञानवापी मुकदमे में भी हुआ, जहां 'वजूखाने' की पड़ताल के बाद दावा किया गया कि वहां मिली एक वस्तु 'शिवलिंग' है। मुस्लिम पक्ष का तर्क था कि यह वजू के लिए इस्तेमाल होने वाले फव्वारे का हिस्सा है। इसका वास्तविक स्वरूप चाहे जो भी हो, इस विवाद ने कानूनी और राजनीतिक परिदृश्य को पूरी तरह बदल दिया और 1991 के अधिनियम को कमजोर कर दिया।

संभल में भी यही कहानी दोहराई गई। शाही जामा मस्जिद की स्थिति पर सवाल उठाते हुए दीवानी मुकदमा दायर किया गया और तुरंत एक स्थानीय अदालत ने सर्वेक्षण का आदेश दे दिया। इसने फौरन सांप्रदायिक तनाव बढ़ा दिया। अफवाहें तेजी से फैलीं, विरोध प्रदर्शन शुरू हो गए और हिंसक झड़पें हुईं, कई मारे गए। इस घटना ने उन संवेदनशील धार्मिक विवादों के चलते रहने के खतरों को दिखाया, जिसमें सबसे पहले इस बुनियादी सवाल पर विचार नहीं किया गया कि ऐसा मुकदमा उपासना स्थल अधिनियम के तहत प्रतिबंधित है या नहीं।

यही प्रवृत्ति ताजमहल को लेकर भी सामने आई है। मुगल सम्राट शाहजहां के शासनकाल में उनकी पत्नी मुमताज महल की याद में बनी इस इमारत को मुगल वास्तुकला के सबसे बेहतरीन उदाहरणों में माना जाता रहा है। फिर भी, आए दिन यह सुनने को मिल जाता है कि मूल रूप से यहां हिन्दू मंदिर था। आगरा की एक स्थानीय अदालत ने इन दावों को खारिज कर दिया है, लेकिन मुकदमेबाजी इसके बावजूद जारी है।

हाल ही में, इलाहाबाद हाईकोर्ट उच्च न्यायालय ने इससे जुड़ी कार्यवाही में फोटोग्राफी और वीडियोग्राफी का निर्देश दिया। कोई भी यह सोचने पर मजबूर हो सकता है कि क्या हर सर्वेक्षण छिपे हुए धार्मिक प्रतीकों के बारे में नए दावों को जन्म देगा। ऐसी कवायदें 1991 के कानून के उसी मूल उद्देश्य को कमजोर करने का जोखिम उठाती हैं, जिसका मकसद ऐतिहासिक अटकलों को समकालीन मुकदमेबाजी बनने से रोकना था।

महत्वपूर्ण बात यह है कि सुप्रीम कोर्ट ने खुद उपासना स्थल अधिनियम की संवैधानिक वैधता को चुनौती देने वाली याचिकाओं पर सुनवाई की अनुमति दी है। एक बार जब कानून की वैधता ही न्यायिक जांच के दायरे में आ जाती है, तो उन विवादों में अनिश्चितता फैलना तय है जिन्हें संसद ने हमेशा के लिए खत्म करने का इरादा किया था।

इस पृष्ठभूमि में, यह उम्मीद करना कि मथुरा, काशी और संभल के विवाद 'समाधान' से हल हो जाएंगे, कुछ ज्यादा ही उम्मीद करना होगा। दोनों पक्षों ने मध्यस्थता पर पहले ही आशंकाएं जता दी हैं। जब आस्था, इतिहास और पहचान के बुनियादी सवाल जुड़े हों, तो सद्भावना वाले समझौते बेहद मुश्किल होते हैं।

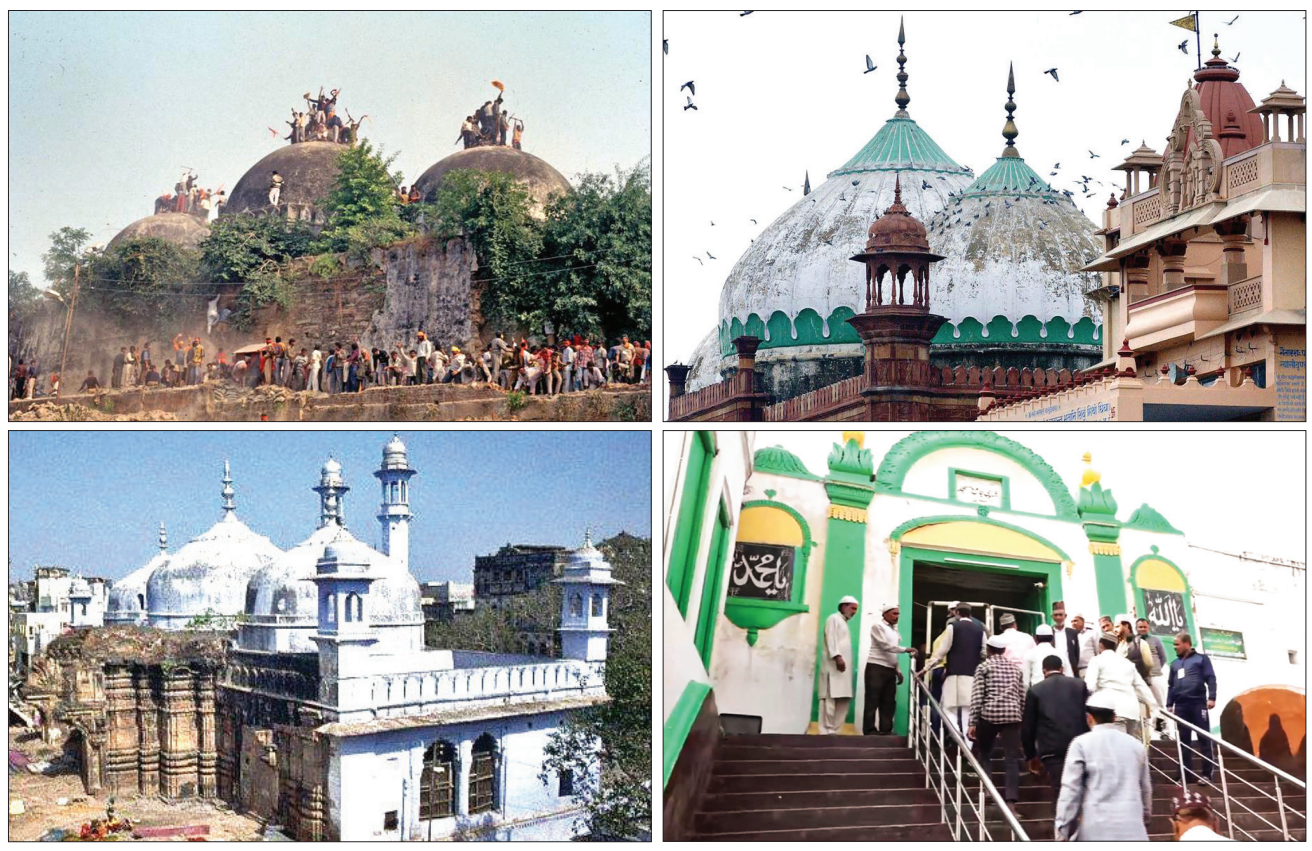

इसलिए, सुप्रीम कोर्ट के पास शायद इसके अलावा कोई विकल्प न बचे जो उसने अंततः अयोध्या में किया था: सबूतों को सुनना, कानून की व्याख्या करना और एक बाध्यकारी फैसला सुनाना।

'समाधान' भले अच्छे इरादों से पैदा हुआ, लेकिन जहां मध्यस्थता असंभव हो, वहां न्याय समझौते की नहीं बल्कि कानूनी फैसले की मांग करता है। सुप्रीम कोर्ट मुश्किल फैसलों से बचकर अपने संवैधानिक कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकता। ■

ए. जे. फिलिप वरिष्ठ पत्रकार और राष्ट्रीय मामलों के टिप्पणीकार हैं

बिना सहमति के इथेनॉल की धार

स्वच्छ ऊर्जा की ओर संक्रमण तभी टिकाऊ माना जाएगा, जब उसमें भरोसा हो जो पारदर्शिता से ही संभव

हरजिंदर

सरकार ई20 (20 प्रतिशत एथेनॉल मिश्रित पेट्रोल) नीति को अपनी बड़ी उपलब्धियों में गिन रही है। तय समय-सीमा 2030 से पहले ही एथेनॉल ब्लेंडिंग का लक्ष्य हासिल कर लेने को ऐतिहासिक सफलता बताया जा रहा है। दावा है कि इससे करोड़ों टन कार्बन उत्सर्जन कम हुआ है, कच्चे तेल के आयात पर एक लाख करोड़ रुपये से अधिक की बचत हुई है।

सुनने में यह एक ऐसी कहानी लगती है, जिसमें सब कुछ सही है। लेकिन किसी भी सार्वजनिक नीति का आकलन केवल सरकारी खजाने की बचत से नहीं किया जा सकता। असली कसौटी यह है कि उसका असर आम नागरिक पर क्या पड़ता है- खासकर तब, जब फैसले में उसकी कोई भागीदारी ही न हो। ई20 की कहानी इसी मोड़ पर लोकतांत्रिक जवाबदेही की बुनियादी कसौटी 'सहमति' पर सवालों के घेरे में आ जाती है।

भारत की सड़कों पर दौड़ रहे 80 प्रतिशत से अधिक पेट्रोल वाहन 2023 से पहले बने थे। इन्हें ई10 या कम एथेनॉल मिश्रण वाले पेट्रोल के लिए डिजाइन किया गया था। इन वाहनों के मालिकों को कभी यह नहीं बताया गया कि कुछ वर्षों बाद उन्हें उसी ईंधन पर चलने के लिए मजबूर कर दिया जाएगा, जिसके लिए उनके इंजन बने ही नहीं हैं। एक दिन उन्होंने पाया कि कई पेट्रोल पंपों से ई0 और ई10 लगभग गायब हो चुके हैं।

उपभोक्ता ने एक निश्चित ईंधन मानक के वाहन के लिए पूरी कीमत चुकाई, भारी टैक्स भी दिया, उसके पास अब उसी मानक का ईंधन खरीदने का विकल्प नहीं है। यह स्वच्छ ऊर्जा की ओर सहमति से बढ़ाया गया कदम नहीं, बल्कि विकल्प खत्म करके उसे अपरिहार्यता का नाम देना है। न स्पष्ट लेबलिंग, न रंग-कोडिंग और न ही अधिकांश पेट्रोल पंपों पर कोई वैकल्पिक ईंधन।

ऐसी तकनीकी चिंताएं हवा-हवाई नहीं हैं। ऑटोमोटिव रिसर्च एसोसिएशन ऑफ इंडिया (एआरएआई) के एक अध्ययन, जिसे अब तक पूरी तरह सार्वजनिक नहीं किया गया, के अनुसार ई10 के लिए बने वाहनों में ई20 के इस्तेमाल से फ्यूल सिस्टम के रबर पुर्जे, जैसे होज, गैस्केट, सील और ओ-रिंग, समय से पहले खराब हो सकते हैं। रिपोर्ट के सारांश में यह भी स्वीकार किया गया कि कुछ पुर्जों को बदलना पड़ सकता है। यही आशंका 2023 से पहले बने वाहनों के मालिक लंबे समय से जताते रहे हैं।

विरोधाभास यहीं खत्म नहीं होता। अप्रैल 2023 के बाद बने सभी वाहनों के लिए ई20 प्रमाणन अनिवार्य किया गया। इसके लिए अलग मैटेरियल कम्पैटिबिलिटी और इंजन ट्यूनिंग मानक तय किए गए। सवाल यह है कि यदि ई20 बिना किसी बदलाव के पुराने वाहनों के लिए पूरी तरह सुरक्षित था, तो नए वाहनों के लिए अलग प्रमाणन व्यवस्था की जरूरत क्यों पड़ी? नए मानक क्यों बनाए गए? वाहन कंपनियों को अपने इंजन और पुर्जों में बदलाव क्यों करना पड़ा? एक ओर सरकार कहती है कि ई20 सभी वाहनों के लिए सुरक्षित है, दूसरी ओर नए वाहनों के लिए अलग तकनीकी प्रमाणन अनिवार्य करती है। दोनों बातें एक साथ सही नहीं हो सकतीं।

दिलचस्प यह है कि वाहन निर्माता मारुति सुजुकी ने अपने कुछ पुराने मॉडलों के लिए करीब 7,000 रुपये तक की लागत वाला ई20 अपग्रेड किट देने की बात कही है। हीरो मोटोकॉर्प और टीवीएस मोटर ने भी साफ कहा है कि 2023 से पहले बने कई वाहनों में ई20 के बेहतर इस्तेमाल के लिए फ्यूल सिस्टम में बदलाव की जरूरत पड़ सकती है। शेल इंडिया ने तो अपने ग्राहकों को यह तक आगाह किया कि ई20 से इंजन को होने वाले नुकसान या वारंटी खत्म होने का जोखिम उनकी अपनी जिम्मेदारी होगा। ये कोई सोशल मीडिया अफवाहें नहीं, बल्कि देश के सबसे बड़े ऑटोमोबाइल और ईंधन उद्योग की चेतावनियां हैं।

इसके बावजूद सरकार माइलेज में गिरावट और इंजन के घिसाव से जुड़ी शिकायतों को अक्सर भ्रामक प्रचार बताकर खारिज करती रही है। इतना ही नहीं, ई20 पर सवाल उठाने वाले कुछ सोशल मीडिया इन्फ्लुएंसर्स के खिलाफ एफआईआर दर्ज होने की खबरें भी हैं। यदि सरकार को अपने दावों पर इतना ही भरोसा है, तो उसे आलोचनाओं का जवाब आंकड़ों से देना चाहिए, मुकदमों से नहीं।

ई20 विवाद का दूसरा पहलू उपभोक्ता को मिलने वाली वास्तविक कीमत है। एथेनॉल में पेट्रोल की तुलना में प्रति लीटर लगभग 30 प्रतिशत कम ऊर्जा होती है। 44 हजार से अधिक वाहन मालिकों पर किए गए एक सर्वेक्षण सहित कई अध्ययनों में सामने आया कि 2023 से पहले बने अनेक वाहनों का माइलेज दो अंकों तक घट गया। सील में जंग लगने, इंजेक्टर चोक होने और मरम्मत का खर्च बढ़ने जैसी शिकायतें भी सामने आईं। दूसरी ओर, एथेनॉल की खरीद कीमत खुदरा पेट्रोल की तुलना में काफी कम है। यदि कच्चा माल सस्ता है और उससे मिलने वाला नतीजा भी कम है, तो पेट्रोल पंप पर इसकी कीमत में यह अंतर दिखाई देना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है।

सवाल केवल इतना है कि क्या सरकार को अपने नागरिकों को सूचित विकल्प, पारदर्शी मूल्य निर्धारण और पुराने वाहनों पर ई20 के प्रभाव से जुड़ा पूरा और ईमानदार वैज्ञानिक डेटा उपलब्ध नहीं कराना चाहिए था?

जबकि उपभोक्ता लगभग उतनी ही कीमत देकर कम दूरी तय करता है, उधर सस्ते एथेनॉल और घटते कच्चे तेल आयात से होने वाली बचत का लाभ कहीं और चला जाता है। अक्सर उदाहरण के तौर पर पेश किए जाने वाले ब्राजील में अधिक एथेनॉल मिश्रण वाले ईंधन पर सब्सिडी देकर माइलेज में होने वाले नुकसान की भरपाई की जाती है। भारत में ऐसा कोई तंत्र नहीं है। यहां घाटा उपभोक्ता का है और उपलब्धि सरकार की।

कुछ आलोचकों ने इस नीति की आर्थिक कीमत का अनुमान लगाने की भी कोशिश की है। सुप्रीम कोर्ट में ई20 नीति को चुनौती देने वाले सिख चैंबर ऑफ कॉमर्स के अग्नोस्टोस थियोस का दावा है कि केवल माइलेज में कमी के कारण ही अगले पांच वर्षों में करीब 13.9 लाख करोड़ रुपये का नुकसान हो सकता है।

शेष पेज 2 पर ▸

क्या इस सुरंग के आखिर में कोई रोशनी है?

केरला की सुरंग परियोजना में भूस्खलन ने विकास-प्रकृति के टकराव को फिर जिंदा कर दिया

के. ए. शाजी

केरला के वायनाड जिले में अनाकम्पोयिल-कल्लाडी-मेप्पाडी सुरंग सड़क परियोजना स्थल पर हुए भूस्खलन ने लोगों के भरोसे को हिलाकर रख दिया है। तात्कालिक सवाल बेहद सीधे हैं। भूस्खलन क्यों हुआ? क्या इसे रोका जा सकता था? क्या सुरक्षा मानकों का पालन किया गया? क्या निर्माण गतिविधियों से ढलान कमजोर हुई? इनके जवाब उस तकनीकी जांच से मिलेंगे जिन्हें वी. डी. सतीशन के नेतृत्व वाली यूडीएफ सरकार ने शुरू किया है। इस जांच में निष्पक्ष विशेषज्ञों को शामिल किया गया है।

लेकिन मूल सवाल कहीं पेचीदा हैं। पिनाराई विजयन के नेतृत्व वाली पिछली एलडीएफ सरकार ने इतने संवेदनशील इलाके में इतने बड़े बुनियादी ढांचे के प्रोजेक्ट को अनुमति क्यों दी? क्या योजना बनाने और उसे लागू करने के दौरान भूवैज्ञानिक चेतावनियों पर विचार किया गया था? क्या राजनीतिक नफे के चक्कर में पारिस्थितिकीय सावधानी को दरकिनार कर दिया गया? और इन सबसे बढ़कर, क्या केरला ने पिछले दशक में अपने पहाड़ों को जख्मी करने वाली जलवायु आपदाओं से कुछ सीखा है?

ये सवाल अब केरला के राजनीतिक विमर्श के केन्द्र में हैं। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि यह आपदा चोरलमाला-मुंडकई पहाड़ों से महज पांच किलोमीटर दूर हुई है, जहां 2024 में आए भीषण भूस्खलन में 298 लोगों की मौत हुई थी।

विडंबना है कि मुख्यमंत्री वी. डी. सतीशन के सामने शासन की पहली बड़ी चुनौतियों में से एक वही परियोजना है, जिसका उन्होंने विपक्ष के नेता के रूप में लगातार विरोध किया था। सतीशन का तर्क था कि इस सुरंग को कहीं अधिक भूवैज्ञानिक और पर्यावरणीय जांच की जरूरत है क्योंकि यह पश्चिमी घाट के सबसे संवेदनशील हिस्सों में से एक से होकर गुजरती है। तब उनकी आपत्तियों को राजनीति से प्रेरित कहकर खारिज कर दिया गया था। परियोजना के समर्थकों ने उनपर विकास में बाधा डालने और वायनाड को बेहतर कनेक्टिविटी से वंचित करने का आरोप लगाया था। सोशल मीडिया अभियानों में पर्यावरणीय चिंताओं को महज डर फैलाना बताया गया था।

लेकिन बुनियादी ढांचा भूगोल से अलग अस्तित्व में नहीं रह सकता। इसका मार्ग एक ऐसे इलाके से होकर गुजरता है जो वैज्ञानिक आकलनों में बार-बार भूवैज्ञानिक रूप से बेहद कमजोर और भूस्खलन के प्रति संवेदनशील माना गया है। वायनाड स्थित 'ह्यूम सेंटर फॉर इकोलॉजी एंड वाइल्डलाइफ बायोलॉजी' के पारिस्थितिकीविद् सी. के. विष्णुदास लंबे समय से तर्क देते रहे हैं कि पहाड़ी पारिस्थितिकी प्रणालियों को केवल पारंपरिक इंजीनियरिंग गणनाओं से नहीं समझा जा सकता। पश्चिमी घाट केवल चट्टानों की कतारें नहीं हैं जिन्हें काट दिया जाए। वे गतिशील भूवैज्ञानिक प्रणालियां हैं जहां चट्टानें, भूजल की गति, वनस्पति, जल निकासी और वर्षा जटिल तरीकों से एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस प्रणाली के एक हिस्से को भी परेशान करने से दूसरी जगहों पर बदलाव शुरू हो सकते हैं, जिनका असर तुरंत नहीं बल्कि धीरे-धीरे सामने आता है।

हालिया हादसा चोरलमाला-मुंडकई पहाड़ों से मात्र पांच किलोमीटर दूर हुआ जहां 2024 में भीषण भूस्खलन हुआ था

कोचीन यूनिवर्सिटी ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी के प्रसिद्ध जलवायु वैज्ञानिक एस. अभिलाष का मानना है कि यह समझ अब बेहद महत्वपूर्ण हो चुकी है क्योंकि जलवायु परिवर्तन केरला में बारिश के पैटर्न को बदल रहा है। कम समय में भारी बारिश की घटनाएं अब आम हो गई हैं। जो ढलानें दशकों स्थिर रहीं, वे अब उन परिस्थितियों में ढह रही हैं जिन्हें कभी अपवाद माना जाता था। ऐसे इलाके में बुनियादी ढांचे की योजना के लिए भूवैज्ञानिक जांच की जरूरत होती है जो सामान्य सर्वेक्षणों से कहीं आगे जाती हो।

सुरंग को लेकर जारी विवाद विकास के दो प्रतिस्पर्धी दृष्टिकोणों को दिखाता है। एक दृष्टिकोण बुनियादी ढांचे को प्राथमिक रूप से एक आर्थिक जरूरत के रूप में देखता है। दूसरे का तर्क है कि जलवायु-संवेदनशील पहाड़ी क्षेत्रों में परियोजनाओं को उच्च मानक वाले वैज्ञानिक जांच की आवश्यकता होती है क्योंकि ये गलतियां नहीं सुधारे जा सकने वाले बदलाव ला सकती हैं। इस दूसरे दृष्टिकोण को बरसों तक राजनीतिक स्वीकार्यता के लिए संघर्ष करना पड़ा। पर्यावरणीय चिंताओं और वैज्ञानिक सावधानी को अक्सर प्रगति-विरोधी माना गया। असहज सवाल करने वालों को विकास-विरोधी करार दिया गया। जैसा कि प्रमुख पर्यावरण कार्यकर्ता श्रीधर राधाकृष्णन बताते हैं, इस हालिया भूस्खलन ने ध्यान फिर से 'परियोजना की परिकल्पना, मंजूरी और क्रियान्वयन के दौरान लिए गए निर्णयों पर केंद्रित कर दिया है। ... जिन सवालों को पहले केवल प्रक्रियात्मक आपत्तियां माना जाता था, वे अब आधिकारिक जांच का हिस्सा हैं।'

सतीशन सरकार ने काम रोक दिया है और एक उच्चस्तरीय विशेषज्ञ समिति का गठन किया है जो न केवल पता करेगी कि भूस्खलन कैसे हुआ, बल्कि यह भी देखेगी कि क्या परियोजना को उसके वर्तमान स्वरूप मेंसुरक्षित रूप से आगे बढ़ाया जा सकता है। इस समिति की कमान भूवैज्ञानिक डॉ. सी. पी. राजेंद्रन के हाथ है, जिनके भूकंप, टेक्टोनिक्स और भूवैज्ञानिक खतरों पर अध्ययन की अंतरराष्ट्रीय मान्यता है। सदस्यों में विष्णुदास (जो भूमि उपयोग, जलवायु परिवर्तन और आपदा संवेदनशीलता के बीच संबंध पर केरला की प्रमुख आवाजों में एक हैं), मुख्य वन्यजीव वार्डन डॉ. पी. पुगलेंदी, लोक निर्माण विभाग के वरिष्ठ इंजीनियर और आपदा प्रबंधन अधिकारी शामिल हैं।

समिति को परियोजना के भूवैज्ञानिक और पारिस्थितिक संदर्भ का अध्ययन करने, पर्यावरणीय सुरक्षा उपायों के अनुपालन की जांच करने, निर्माण प्रथाओं का आकलन करने और यह सुझाने को कहा गया है कि क्या सुरंग को उसके वर्तमान स्वरूप में जारी रखा जाना चाहिए, इसे फिर से डिजाइन किया जाना चाहिए या किसी वैकल्पिक दृष्टिकोण को अपनाया जाना चाहिए।

केरला में 2018 से आपदाओं का सिलसिला चल रहा है, जब विनाशकारी बाढ़ ने पूरे राज्य में अभूतपूर्व भूस्खलन की घटनाओं को अंजाम दिया था। पुथुमला, कवलपारा, कूटिकल, पेटीमुडी और अंततः मुंडकई और चोरलमाला याद दिलाते हैं कि अत्यधिक बारिश अब बदले हुए परिदृश्यों के साथ इस तरह से जुड़ रही है जिसका अनुमान लगाने में पारंपरिक योजना मॉडल पूरी तरह विफल रहे।

> जलवायु परिवर्तन केरला में बारिश के पैटर्न को बदल रहा है। जो ढलानें पहले स्थिर थीं, वे अब धंस रही हैं और नियमित सर्वे जमीन की स्थिति को ठीक से समझ नहीं पा रहे हैं

हर बड़ी आपदा ने विशेषज्ञ रिपोर्ट और सिफारिशें तैयार की गईं-जो भविष्य की योजना में शामिल होने के बजाय विभागों में बिखरी रहीं। वर्ष 2010 में गठित माधव गाडगिल के नेतृत्व वाले पश्चिमी घाट पारिस्थितिकी विशेषज्ञ आयोग ने मजबूत पारिस्थितिक सुरक्षा उपायों का आह्वान किया था और पर्यावरण के प्रति संवेदनशील क्षेत्रों में अनियंत्रित विकास के खिलाफ चेतावनी दी थी। उनकी सिफारिशें राजनीतिक रूप से विवादास्पद हो गईं। इसके बाद बनी के. कस्तूरीरंगन समिति ने अपनी सिफारिशें 2013 में सौंपीं और अपेक्षाकृत अधिक उदार होने के बाद भी इन्हें राजनीतिक दलों, चर्च के एक धड़े, किसान संगठनों और व्यावसायिक समूहों के विरोध का सामना करना पड़ा।

*

अगर सुरंग में अंततः अस्वीकार्य पर्यावरणीय या भूवैज्ञानिक जोखिम पाए जाते हैं, तो वायनाड के लिए संपर्क सुधारने के क्या विकल्प हैं? बहुत कम गंभीर विश्लेषक वायनाड को अपर्याप्त बुनियादी ढांचे के भरोसे छोड़ने की वकालत करते हैं। कृषि, पर्यटन, स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा और आपातकालीन प्रतिक्रिया के लिए बेहतर संपर्क आवश्यक है। चुनौती ऐसे समाधान तलाशने की है जो आपदा के जोखिम को बढ़ाए बिना यात्रा के समय को कम कर सके।

विकल्पों में मौजूदा थामरस्सेरी घाट रोड के संवेदनशील हिस्सों को वैज्ञानिक रूप से मजबूत करना, उन्नत ढलान स्थिरीकरण तकनीक, बेहतर जल निकासी प्रबंधन, रीयल-टाइम भूस्खलन निगरानी, इंटेलिजेंट ट्रैफिक सिस्टम, सार्वजनिक परिवहन में सुधार और वैकल्पिक मार्गों का सावधानीपूर्वक मूल्यांकन शामिल है। इसलिए समिति की सिफारिशें न केवल वायनाड के लिए बल्कि केरला की ऊंची पर्वत श्रृंखलाओं में प्रस्तावित हर बुनियादी ढांचा परियोजना के लिए कसौटी बन सकती हैं।

जैसा कि जलवायु विशेषज्ञ डॉ. के. जी. थारा कहती हैं, 'पर्यावरण विज्ञान आपदाएं आने के बाद ही सार्वजनिक नीति का हिस्सा नहीं बन सकता। इसे निर्णय लेने की प्रक्रिया का हिस्सा तब बनना चाहिए जब पहला सर्वे भी नहीं हुआ हो, पहला टेंडर भी जारी नहीं हुआ हो और पहला एक्सकेवेटर पहाड़ को काटना भी शुरू न कर सका हो।' ■

के. ए. शाजी वरिष्ठ पत्रकार हैं जो पर्यावरण और ग्रामीण विकास के मुद्दों पर लिखते हैं

बिना सहमति के एथेनॉल की धार

पेज एक का शेष

इसमें मरम्मत, बार-बार खराबी, समय से पहले स्क्रैपिंग और पुनर्विक्रय मूल्य में गिरावट से होने वाला अतिरिक्त नुकसान शामिल नहीं है। इन आंकड़ों पर बहस हो सकती है और इन्हें अंतिम सत्य नहीं माना जा सकता। लेकिन इतना जरूर स्पष्ट है कि इस बदलाव की सबसे बड़ी कीमत वाहन मालिक ही चुका रहे हैं।

पर्यावरणीय पहलू भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में एथेनॉल का अधिकांश उत्पादन अब भी गन्ने, मक्का और चावल जैसी फसलों से होता है, जिनकी खेती में भारी मात्रा में पानी लगता है और जिन्हें पर्याप्त सरकारी सब्सिडी भी मिलती है। चीनी मिलों और डिस्टिलरियों पर प्रदूषण फैलाने के आरोप लगते रहे हैं, जबकि गन्ने की खेती लंबे समय से भूजल दोहन के लिए आलोचना झेलती रही है। ऐसे में यदि एथेनॉल उत्पादन की वास्तविक लागत में सब्सिडी वाला पानी, बिजली और उर्वरक भी जोड़ दिए जाएं, तो इसकी कथित आर्थिक बचत की तस्वीर कहीं अधिक जटिल दिखाई देती है।

केन्द्रीय सड़क परिवहन एवं राजमार्ग मंत्री नितिन गडकरी एथेनॉल मिश्रण के सबसे मुखर समर्थकों में रहे हैं। उनके परिवार का कारोबारी संबंध चीनी और कृषि-आधारित उद्योगों से रहा है। समय के साथ इन कारोबारों का संचालन उनके पुत्र निखिल और सारंग गडकरी के हाथों में चला गया। निखिल गडकरी की कंपनी ''सीआईएएन एग्रो इंडस्ट्रीज एंड इंफ्रास्ट्रक्चर लिमिटेड'' आज एथेनॉल उत्पादन के क्षेत्र की प्रमुख कंपनियों में शामिल है और हाल के वर्षों में उसके कारोबार तथा बाजार मूल्य में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। ऐसी स्थिति में, जब नितिन गडकरी का मंत्रालय पूरे देश में ई20 को तेजी से लागू करने वाली नीतियों का सबसे बड़ा पैरोकार हो, तब संभावित "हितों के टकराव (कॉन्फ्लिक्ट ऑफ इंटरेस्ट)" का सवाल उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर सिर्फ यह नहीं हो सकता कि कारोबार का संचालन अब उनके पुत्र करते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में पारदर्शिता केवल वास्तविक हितों के टकराव से नहीं, उसके संभावित आभास से भी जुड़ी होती है।

यह एथेनॉल मिश्रण के खिलाफ दलील नहीं है। न ही यह किसानों या ऊर्जा सुरक्षा के उद्देश्यों का विरोध है। सवाल केवल इतना है कि क्या सरकार को अपने नागरिकों को सूचित विकल्प, पारदर्शी मूल्य निर्धारण और पुराने वाहनों पर ई20 के प्रभाव से जुड़ा पूरा और ईमानदार वैज्ञानिक डेटा उपलब्ध नहीं कराना चाहिए था? किसी भी लोकतंत्र में स्वच्छ ऊर्जा की ओर संक्रमण तभी टिकाऊ माना जाएगा, जब उसमें भरोसा होगा। भरोसा केवल दावों से नहीं, पारदर्शिता से पैदा होता है। ■

भारतीय पासपोर्ट की असली अहमियत

लेकिन हमारे प्रधानमंत्री अपनी ताबड़तोड़ विदेश यात्राओं के ज़रिये देश का अपने ही तरीके से मान-सम्मान बढ़ा रहे

आशीष रॉय

विदेश मंत्रालय अभी यह फैसला करने की कोशिश ही कर रहा है कि भारतीय पासपोर्ट असल में क्या है और क्या नहीं, और क्या यह भारतीय नागरिकता का सबूत है या नहीं; इसबीच, जुलाई की शुरुआत में जारी ग्लोबल पासपोर्ट इंडेक्स (जीपीआई) के 2026 संस्करण में 197 देशों की सूची में भारत 125वें स्थान पर खड़ा मिला है। यह तस्वीर किसी भी नजरिये से बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। खासकर उस देश के लिए जो खुद को 'विश्वगुरु' मानता है और जिसके प्रधानमंत्री के खाते में 2014 में पद संभालने के बाद से अब तक 100 से ज्यादा विदेश यात्राएं हैं, जो किसी भी भारतीय प्रधानमंत्री के मुकाबले सबसे ज्यादा है।

हेनली पासपोर्ट इंडेक्स के उलट, जो पासपोर्ट को इस आधार पर रैंक करता है कि उनके धारक कितने देशों में बगैर वीजा जा सकते हैं, जीपीआई एक स्कोरिंग सिस्टम का इस्तेमाल करता है। जीपीआई लंदन स्थित सिटिजनशिप एडवाइजरी फर्म 'ग्लोबल सिटिजन सॉल्यूशंस' जारी करती है। यह पासपोर्ट की मजबूती को तीन पैमानों पर मापता है- ग्लोबल मोबिलिटी या बिना वीजा यात्रा (50 प्रतिशत वेटेज); किसी देश की विदेशी निवेशकों के लिए अनुकूलता, जिसमें टैक्स सिस्टम और बिजनेस का माहौल शामिल है (25 प्रतिशत); और रहने-सहने की स्थिति, व्यक्तिगत आजादी और वैश्विक प्रतिष्ठा (25 प्रतिशत)।

मई 2026 के मध्य में, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने पश्चिम एशिया युद्ध के मद्देनजर भारतीयों से विदेश यात्रा न करने की अपील की, क्योंकि भारत कई तरह के आर्थिक दबाव में था। उन्हें भारत के कम तेल और घटते विदेशी मुद्रा भंडार की चिंता रही होगी। चिंताएं गलत भी नहीं थीं, लेकिन नागरिकों के लिए- चाहे वे पासपोर्टधारी हों या नहीं, 'क्या न करें' की जो सूची जारी हुई, उस पर हंसा ही जा सकता था।

सादगी की सीख देने के कुछ ही समय बाद, वह फिर विदेश यात्राओं पर निकल गए। दिल्ली गर्म हो रही थी, वह यूरोप के ठंडे इलाकों में थे। लेकिन वहां अलग ही 'गर्मी' इंतजार में थी। नीदरलैंड में, वहां के प्रधानमंत्री रॉब जेटन ने भारत में प्रेस की आजादी और अल्पसंख्यकों के अधिकार कमजोर होते जाने पर चिंता जताई, तो नॉर्वे में पत्रकार हेले लिंग स्वेन्डसेन ने पूछ दिया- वह मीडिया के सवालों से भागते क्यों हैं!

एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में एक भारतीय राजनयिक से लिंग ने पूछा, "हम आप पर (भारत पर) क्यों भरोसा करें? क्या आप अपने यहां मानवाधिकार उल्लंघन रुकवा सकते हैं?" जवाब देने में उलझ गए विदेश मंत्रालय के सचिव (पश्चिम) सिबी जॉर्ज को सोशल मीडिया पर मजाक का पात्र बनना पड़ा।

पत्रकारों के साथ सीधे सवाल-जवाब का सामना न कर पाने की मोदी की कमजोरी बड़ी समस्या और राष्ट्रीय शर्मिंदगी का मुद्दा बन चुकी है। वह दुभाषिए की मदद लेने, हिन्दी में जवाब देने को भी तैयार नहीं, जबकि हिन्दी में आसानी से धाराप्रवाह बात करते हैं, और जिसे उनकी सरकार चाहती है कि सभी भारतीय बिना कोई सवाल किए अपनाएं। भारत का आज्ञाकारी-एहसानमंद मुख्यधारा मीडिया भले ही निर्देश, तयशुदा बातों और सोशल मीडिया हैंडल से मिले थर्ड-पार्टी सामग्री से संतुष्ट हो, जीवित लोकतंत्रों का मीडिया मोदी के सवालों से बचने वाले रवैये पर सवाल उठा रहा है, खासकर इसलिए क्योंकि भारत में नागरिक आजादी और अल्पसंख्यकों पर हमले की बातें अंतरराष्ट्रीय समुदाय अच्छी तरह समझने लगा है।

सेशेल्स में 'गार्जियन ऑफ़ द ब्लू होराइज़न' अवॉर्ड लेते नरेन्द्र मोदी

विदेशी सरकारों का मानना है कि मोदी को अंतरराष्ट्रीय मामलों की जमीनी समझ नहीं है। वह बस प्रचार के भूखे हैं और उनके अहंकार को तुष्ट करने मात्र से भारत से रियायतें हासिल की जा सकती है।

नीदरलैंड और नॉर्वे की मुश्किल यात्राओं के बाद इटली पहुंचे मोदी का प्रधानमंत्री जॉर्जिया मेलोनी ने अच्छा स्वागत किया, उन्हें रोम घुमाया, कोलोसियम में डिनर दिया, साथ सेल्फी लीं और उनसे भारतीय कैंडी 'मेलोडी' पाई (जिसे उन्होंने मजाक में मेलोनी और मोदी का मेल बताया)।

फिर यह भी हुआ! एक महीने बाद फ्रांस में जी-7 समिट में मोदी और मेलोनी मिले, तो मोदी चर्चा किए बिना नहीं रह सके कि इंस्टाग्राम पर उनकी साथ वाली तस्वीरें 'वायरल' हो गई थीं! यही कूटनीति की बुनियादी समझ है!

मोदी को अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार बटोरने का भी शौक है, जिसपर विदेशी मीडिया की नजर है। जून के आखिर में सेशेल्स की राजकीय यात्रा के दौरान उनके नया अवार्ड 'गार्जियन ऑफ द ब्लू होराइजन' लेने के बाद, ब्रिटिश अखबार 'गार्जियन' की हेडलाइन थीः 'उन्हें कोई भी पुरस्कार दे दो, वह दौड़े चले आएंगे।'

इसमें लिखा थाः 'पता चला कि इस अवॉर्ड की ईजाद मोदी के आने से सिर्फ तीन दिन पहले हुई और इसे पाने वाले वह पहले और एकमात्र व्यक्ति थे।' जल्दबाजी में तैयार सर्टिफिकेट में 'republic' की स्पेलिंग गलत लिखकर 'repubblic' और 'Seychelles' की स्पेलिंग गलत लिखकर 'Seycheeles' कर दी गई थी। रिपोर्ट में कहा गयाः 'हंगामा तब और बढ़ गया जब सॉफ्टवेयर जांच से पता चला कि सर्टिफिकेट एआई जनित था। शर्मिंदा सेशेल्स विदेश मंत्रालय ने कहा- गलती से एक 'वर्किंग ड्राफ्ट' (कच्चा मसौदा) जारी हो गया था और अब 'असली और विधिवत स्वीकृत' वर्शन जारी कर दिया गया है।' बड़े दिल वाले हमारे प्रधानमंत्री ने भी इसे गर्व से स्वीकार किया।

> जून के आखिर में सेशेल्स की राजकीय यात्रा के दौरान उनके नया अवार्ड 'गार्जियन ऑफ द ब्लू होराइजन' लेने के बाद, ब्रिटिश अखबार 'गार्जियन' की हेडलाइन थी: 'उन्हें कोई भी पुरस्कार दे दो, वह दौड़े चले आएंगे'

सरकार के प्रमुखों की बैठकों का महत्व कम करके नहीं आंका जा सकता और न ही ऐसा होना चाहिए। लेकिन मोदी ने अपनी लगातार विदेश यात्राओं के इस बारह वर्षों में ऐसा क्या हासिल किया, जिसे कोई भारतीय राजदूत, उच्चायुक्त या विदेशमंत्री हासिल नहीं कर सकता था? जो प्रधानमंत्री नागरिकों को सादगी और मितव्ययिता की घुट्टी पिलाकर प्रसन्न होते हों, विदेशों में फोटो-सेशन पर करोड़ों करदाताओं के पैसे उड़ाने को लेकर इतना बेपरवाह कैसे हो सकते हैं?

उनके विदेशी दौरों में किसी ठोस बात या अहमियत का अभाव साफ दिखता है। भारत की पुरानी, परखी हुई नीतियों से हटकर उन्होंने जब भी कुछ किया, जिनकी नींव प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने रखी और जिनमें प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने शीत युद्ध बाद के हालात के मद्देनजर कुछ बदलाव किए, नतीजा बुरा ही रहा है। वॉशिंगटन से गारंटी मिले बगैर 'मल्टी-अलाइनमेंट' (कई देशों से संबंध) वाली नीति छोड़कर अमेरिका के बहुत करीब जाना और सबसे गलत समय पर इसराइल से निकटता दिखाने आदि से भारत को कुछ नहीं हासिल हुआ।

पिछले साल पाकिस्तान के खिलाफ चले 'ऑपरेशन सिंदूर' का इसराइल के अलावा किसी देश ने समर्थन नहीं किया। इसके उलट, पाकिस्तान को चीन, तुर्की, अजरबैजान से सक्रिय समर्थन मिला, और सऊदी अरब साथ दिखा। वही सऊदी अरब, जिसके क्राउन प्रिंस को मोदी ने खासतौर से लुभाया था, और जिसका अब पाकिस्तान के साथ रणनीतिक आपसी रक्षा समझौता है।

इसके बाद इंडोनेशिया, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड की यात्राएं हुईं। अपनी यात्रा के पहले पड़ाव पर, मोदी को इंडोनेशिया की आजादी में नेहरू का योगदान स्वीकारना पड़ा और इंडोनेशियाई राष्ट्रपति द्वारा नेहरू की भूमिका की तारीफ सुननी पड़ी, जिसमें न सिर्फ इंडोनेशिया की आजादी में उनकी भूमिका शामिल थी, गुटनिरपेक्ष आंदोलन के जनक के तौर पर योगदान भी शामिल था।

ऑस्ट्रेलिया में, एमनेस्टी इंटरनेशनल ने ऑस्ट्रेलियाई सरकार से द्विपक्षीय बातचीत में भारत के मानवाधिकार रिकॉर्ड का मुद्दा उठाने की अपील की, जबकि 'अलायंस अगेंस्ट इस्लामोफोबिया' ने मुसलमानों और पिछड़ी जातियों के खिलाफ 'कट्टरता और उत्पीड़न' का विरोध किया। ऑस्ट्रेलिया की सबसे ज्यादा देखी जाने वाली न्यूज सर्विस '7न्यूज' के रिपोर्टर ने, जब मोदी उनके पीछे कुछ ही दूरी पर चल रहे थे, कैमरे पर बात करते हुए कहा, ₹मेलबर्न की यात्रा के दौरान आप मोदी के बस इतने ही करीब आ पाएंगे। वे आम तौर पर बिना स्क्रिप्ट वाली प्रेस कॉन्फ्रेंस से बचते हैं और तयशुदा कार्यक्रमों में शामिल होना पसंद करते हैं।"

वैसे, ऑस्ट्रेलिया के भारत को यूरेनियम सप्लाई करने पर सहमत होने की घोषणा में कुछ नया नहीं था, बल्कि पुरानी खबर ही 'नई बोतल में पुरानी शराब' की तर्ज पर परोसी गई थी। कैनबरा ने 2011 में ही यह कर दिया था, जब डॉ. मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री थे।

न्यूजीलैंड के न्यूज प्लेटफॉर्म 'स्टफ' ने खुलासा किया कि मोदी की एडवांस सिक्योरिटी और लॉजिस्टिक्स टीम ने आयोजकों से यात्रा के दौरान उनके 'झपकी लेने के समय' का ध्यान रखने और 'बिना सीढ़ियों वाली जगहें' चुनने को कहा था! अब इस चिंता को दरकिनार भी कर दें तो, हम विदेश मंत्रालय के सचिव (पूर्व) रुद्रेंद्र टंडन से ही जान पाए कि मोदी प्रेस मीट क्यों नहीं करतेः जाहिर है, इसलिए क्योंकि वह एक "ठेठ भारतीय राजनेता" हैं, जिन्होंने "अपने मतदाताओं से सीधे संपर्क करने की कला में महारत हासिल कर ली है"। ■

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

किसान माना, लेकिन जमीन के मालिकाना हक का क्या?

महाराष्ट्र ने महिला किसानों को कानूनी पहचान देने के लिए नया कानून तो पास कर दिया है, लेकिन क्या यह उन्हें सच में सशक्त बनाने के लिए काफी है?

जयदीप हार्दीकर

महाराष्ट्र के धुले जिले के निमखेड़ी गांव की एक छोटी किसान, सविता पाटिल, सरकारी योजनाओं और सब्सिडी के लिए बने राज्य सरकार के 'महा-डीबीटी' पोर्टल पर अपना पंजीकरण नहीं करा सकीं जबकि वह पति के साथ अपनी दो एकड़ जमीन पर कपास और मक्के की खेती करती हैं। 37 साल की सविता आधिकारिक दस्तावेजों में किसान थीं ही नहीं।

सविता पाटिल का यह मामला कोई अपवाद नहीं। पीढ़ियों से महिलाएं खेत जोतती हैं, रोपाई करती हैं, कपास चुनती हैं, मवेशियों का दूध निकालती हैं, पशुधन का प्रबंधन करती हैं, बीज सहेजती हैं, वनोपज इकट्ठा करती हैं, मशरूम उगाती हैं और तालाबों-नदियों से मछलियां पकड़कर अपने श्रम और अतिरिक्त आमदनी से घर चलाती हैं। इसके बावजूद, कानून की नजर में देश की करोड़ों महिलाएं अदृश्य रहीं। वे किसान नहीं, बल्कि सिर्फ 'पत्नियां' या 'खेतिहर मजदूर' मानी जाती हैं क्योंकि जिस जमीन पर वे खेती करती हैं, वह आमतौर पर पिता, पति या बेटों के नाम पर दर्ज होती है।

पिछले हफ्ते, महाराष्ट्र ने इस ऐतिहासिक विसंगति को सुधारने की दिशा में बड़ा कदम उठा। राज्य विधानसभा ने सर्वसम्मति से 'महाराष्ट्र महिला किसान अधिकारिता अधिनियम, 2026' पास किया और इसके साथ ही महाराष्ट्र देश के उन शुरुआती राज्यों में शामिल हो गया है जो कृषि भूमि पर मालिकाना हक न होने के बावजूद खेती से जुड़ी महिलाओं को 'किसान' के रूप में कानूनी मान्यता देते हैं। हालांकि महिला कार्यकर्ताओं के बीच अधिकारों की बहस हमेशा भूमि के मालिकाना हक के इर्द-गिर्द केन्द्रित रही है, लेकिन यह नया कानून खेती को भूमि स्वामित्व से अलग करता है। जमीन पर मालिकाना हक की लड़ाई का लंबा इतिहास रहा है, लेकिन वे अधिकार अभी भी दूर की कौड़ी हैं। ऐसे में यह नया कानून अंतरिम तौर पर महिला किसानों और मजदूरों को सरकारी योजनाओं में शामिल करने का एक जरिया बनता है।

यह नया कानून महिला संगठनों, शोधकर्ताओं और किसान समूहों के तीन दशक लंबे संघर्ष का नतीजा है, जिनका तर्क था कि भारतीय कृषि नीति ने महिलाओं के योगदान को हमेशा कम करके आंका क्योंकि उसने खेती को जमीन के मालिकाना हक से जोड़ दिया। यूनिवर्सिटी ऑफ ईस्ट एंग्लिया में जेंडर एंड डेवलपमेंट की प्रोफेसर और एमएस स्वामीनाथन रिसर्च फाउंडेशन की ट्रस्टी प्रो. नित्या राव कहती हैं, 'यह विधेयक अहम है क्योंकि यह किसान की परिभाषा को बदलता है। यह उन गहरे सामाजिक मानदंडों को चुनौती देता है जिन्होंने नीति और व्यवहार में महिलाओं को किसान के रूप में अदृश्य रखा।' लेकिन वह आगाह भी करती हैं- 'इस मान्यता को वास्तविक आर्थिक लाभ में बदलना होगा।'

यह विधेयक सितंबर 2025 से चर्चा में था, जब राज्य सरकार ने एमएसएसआरएफ के साथ समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए थे। मई 2012 में डॉ. स्वामीनाथन ने राज्यसभा में निजी विधेयक- 'महिला किसान अधिकार विधेयक, 2011'- पेश किया था, जिसमें सरकार से महिलाओं की विशिष्ट जरूरतों- जैसे क्रेच खोलने ताकि उसमें वे काम के समय बच्चों को रख सकें- को पूरा करने और महिला किसानों को भूमि का मालिकाना हक देने की मांग की गई थी। यह नया कानून काफी हद तक उसी विधेयक से प्रेरित है।

एमएसएसआरएफ ने जनवरी 2026 में विधेयक का नीति पत्र तैयार किया और मार्च 2026 में बजट सत्र के दौरान इसे सदन के पटल पर रखा गया और इसी बहस के दौरान मुख्यमंत्री देवेंद्र फडणवीस ने घोषणा की कि विधेयक को मानसून सत्र में लाया जाएगा। बाद में इसे सर्वसम्मति से पास कर दिया गया।

राज्य में नागरिक समाज और किसान अधिकार समूहों के साथ राय-मशविरा के दौरान, महिलाओं ने बार-बार शिकायत की कि अधिकतर कृषि कार्य करने के बावजूद उन्हें सरकारी कार्यक्रमों से बाहर रखा जाता है। एमएसएसआरएफ की सीनियर फेलो डॉ. आर.वी. भवानी ने 'संडे नवजीवन' से कहा, 'महिलाएं हर दिन खेती करती हैं, नए प्रयोग करती हैं और घरों को संभालती हैं, फिर भी औपचारिक व्यवस्था से बाहर हैं। अब चुनौती यह सुनिश्चित करने की है कि इसका क्रियान्वयन सरल, सुलभ और व्यापक रूप से समझने योग्य हो।'

यह कानून 'महिला किसान प्रमाणपत्र' की व्यवस्था शुरू करता है, जिससे खेती और उससे जुड़ी गतिविधियों में सक्रिय महिलाएं भूमि दस्तावेजों में नाम न होने पर भी किसान के रूप में पहचान प्राप्त कर सकें। वास्तव में, यह प्रमाणपत्र किसान की पहचान का आधार जमीन के मालिकाना हक से हटाकर कृषि कार्य में भागीदारी को बनाता है। यह कानून न केवल फसल की खेती को कवर करता है, बल्कि पशुपालन, डेयरी, मत्स्य पालन, मशरूम उत्पादन, वन-आधारित आजीविका और अन्य संबद्ध कृषि व्यवसायों को भी शामिल करता है जो ग्रामीण परिवारों की रीढ़ हैं।

कानून के तहत राज्यव्यापी महिला किसान डेटाबेस, महिला किसान अधिकारिता सेल, जिला और उप-जिला स्तर पर सहायता अधिकारियों की

महाराष्ट्र का नया कानून भूमि स्वामित्व के बिना भी महिलाओं को 'किसान' के रूप में पहचान तो देता है, लेकिन संसाधनों के पुनर्वितरण और मालिकाना हक के मोर्चे पर यह अब भी अधूरा है

महाराष्ट्र महिला किसान सशक्तिकरण अधिनियम, 2026 को पास तो कर दिया गया, लेकिन निमखेड़ी गांव की सविता पाटिल पंजीकरण नहीं करा सकीं

नियुक्ति, महिला किसानों के लिए एक समर्पित कोष और विभिन्न विभागों में इसके क्रियान्वयन की निगरानी के लिए एक तंत्र बनाने का भी प्रावधान है। एमएसएसआरएफ की अध्यक्ष डॉ. सौम्या स्वामीनाथन ने कहा कि प्रस्तावित महिला किसान प्रमाणपत्र 'गरिमा, दृश्यता और आर्थिक अवसर का प्रवेश द्वार' है, लेकिन उन्होंने यह भी आगाह किया कि इसकी सफलता प्रभावी क्रियान्वयन पर निर्भर करेगी।

दशकों तक कानूनी मान्यता न होने का मतलब यह था कि अनगिनत महिला किसान सिर्फ इसलिए संस्थागत कर्ज, फसल बीमा, सब्सिडी और प्रशिक्षण कार्यक्रमों से बाहर रहीं क्योंकि वे साबित नहीं कर सकती थीं कि वे किसान हैं। उम्मीद है कि नया प्रमाणपत्र इस स्थिति को बदलेगा।

भारतीय कृषि में सबसे कम चर्चा में रहने वाले बदलावों में से एक इसका लगातार होता 'महिलाकरण' है, जिसका पहली बार भारत के आर्थिक सर्वेक्षण 2015-16 में रेखांकित किया गया था। तमाम कृषि जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि परिचालन जोतों में महिलाओं की हिस्सेदारी 2000-01 में 10.9 फीसद थी, जो 2005-06 में बढ़कर 11.7, 2010-11 में 12.8 और 2015-16 में 13.9 फीसद हो गई। वहीं, आवधिक श्रम बल सर्वे 2023-24 दिखाता है कि कृषि ग्रामीण महिलाओं के लिए रोजगार का मुख्य स्रोत है। काम करने वाली लगभग 77 फीसद ग्रामीण महिलाएं कृषि से जुड़ी हैं, जबकि ग्रामीण पुरुषों की यह हिस्सेदारी लगभग आधी है। यह खेती में महिलाओं की केन्द्रीय भूमिका और गैर-कृषि कार्यों के लिए पुरुषों के लगातार होते पलायन को दिखाता है।

कृषि परिवारों के स्थिति आकलन सर्वेक्षण (एनएसएसओ 2019) से भी साफ होता है कि महिलाओं की अगुवाई वाले कृषि परिवारों की संख्या में धीमी लेकिन महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है, जिसके पीछे पुरुषों का पलायन, वैधव्य और जनसांख्यिकीय बदलाव जैसे कारण हैं। ये सारे रुझान मिलकर एक विरोधाभास को उजागर करते हैं: महिलाओं की खेती-बाड़ी में सक्रियता तेजी से बढ़ी है। शोधकर्ता इस बदलाव को कृषि का महिलाकरण कहते हैं-एक ऐसी प्रक्रिया जो पुरुषों के पलायन, ग्रामीण आजीविका के संकट और खेती, पशुधन तथा कृषि प्रबंधन में महिलाओं की बढ़ती जिम्मेदारी से प्रेरित है।

लेकिन इस महिलाकरण का मतलब सशक्तिकरण नहीं रहा है। जैसा कि धाराशिव जिले की महिला किसान वैशाली घुगे ने कहा, 'मैंने कदम-कदम पर सब कुछ खड़ा किया, लेकिन जमीन मेरे नाम न होने के कारण मैं सरकारी योजनाओं और सब्सिडी का लाभ नहीं उठा सकी।' खेती और उससे जुड़ी गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी भले ही बढ़ी है, लेकिन जमीन का मालिकाना हक, संस्थागत कर्ज तक पहुंच और फैसले लेने की ताकत आज भी पुरुषों के हाथों में है। महाराष्ट्र का यह नया कानून इसे कुछ हद तक सुधारेगा, लेकिन इसकी अपनी सीमाएं हैं।

यह कानून जमीन के मालिकाना हक, विरासत या बटाईदारी के कानूनों को नहीं बदलता। इस अधिनियम के तहत किसान के रूप में मान्यता प्राप्त महिला स्वतः ही जमीन की मालिक नहीं बन जाती और न ही इस प्रमाणपत्र के बल पर उसे संपत्ति के अधिकार मिलते हैं। इसलिए, यह कानून पहचान के मसले को तो हल करता है लेकिन संसाधनों के पुनर्वितरण के मोर्चे पर पीछे रह जाता है। क्या यह मान्यता आर्थिक सशक्तिकरण में बदल पाएगी, यह देखना बाकी है। बैंकों को तय करना होगा कि यह प्रमाणपत्र कृषि ऋण देने के लिए पर्याप्त है या नहीं। बीमा कंपनियों और अन्य एजेंसियों को प्रमाणपत्र धारकों को पात्र लाभार्थी मानना होगा। स्थानीय अधिकारियों को बिना किसी नई नौकरशाही बाधा के वास्तविक खेती करने वालों की पहचान करने के लिए पारदर्शी प्रक्रियाएं बनानी होंगी।

फडणवीस सरकार निस्संदेह इस नए कानून का इस्तेमाल अपनी महिला-हितैषी छवि चमकाने के लिए करेगी, लेकिन विडंबना यह है कि यह कानून उसी हफ्ते अस्तित्व में आया जब सरकार ने अपनी बहुप्रचारित 'लाडकी बहिन योजना' से 92 लाख नाम हटाए जाने की बात स्वीकार की। 2024 के विधानसभा चुनाव से पहले घोषित इस योजना ने महिलाओं के वोट जुटाने में मदद की थी, लेकिन अब राज्य सरकार का कहना है कि उसने अपात्र लाभार्थियों को 14,000 करोड़ रुपये का अतिरिक्त भुगतान कर दिया। ■

जयदीप हार्दीकर वरिष्ठ पत्रकार और लेखक हैं

अयोध्या से ध्यान भटकाने मथुरा की ओर कूच?

कॉरिडोर बनाने के नाम पर भूमि अधिग्रहण, खरीद-फरोख्त, निर्माण और प्रबंधन आदि में खास दिलचस्पी समझी जा सकती है

नंदलाल शर्मा

अयोध्या के राममंदिर में निर्माण, चंदा और चढ़ावे को लेकर जो कुछ हुआ और हो रहा है, सबके सामने है। लेकिन धर्म के नाम पर राजनीति, और साथ-साथ व्यवसाय चमकाते रहने की मंशा पाले लोग अब मथुरा-वृंदावन को अपनी 'कर्मभूमि' बनाने को आतुर दिख रहे। अगले साल होने वाले यूपी विधानसभा चुनावों की वैतरणी पार करने के लिए वे इसे जरूरी मानते हैं।

योगी आदित्यनाथ ने जून-जुलाई में इस ब्रज क्षेत्र के कई इलाकों का दौरा किया है। 28 जून को मुख्यमंत्री ने 'ब्रज की देहरी' कहे जाने वाले हाथरस में पूर्व मुख्यमंत्री अखिलेश यादव का नाम लेते हुए कहा कि 'बोलिए न कि श्रीरामजन्मभूमि मुक्ति आंदोलन की तर्ज पर श्रीकृष्णजन्मभूमि मुक्ति का भी अभियान चलना चाहिए।' राजनीतिक गर्मी लाने के खयाल से उप-मुख्यमंत्री केशव मौर्य समेत भाजपा के कई नेता भी अपने भाषणों में, और वैसे भी, यह कहकर निशाना साध रहे कि 'अगर अखिलेश यदुवंशी हैं' और 'उन्हें मुस्लिम वोटों का मोह नहीं है', तो 'वे और उनकी पार्टी मथुरा में कृष्ण जन्मभूमि की मुक्ति को आगे आएं'। इसके पीछे दो वजहें साफ हैं: पहला, अखिलेश ने अयोध्या में मंदिर चढ़ावा की बंदरबांट का पिटारा खोल दिया जिसपर पूरे देश में लोग सवाल पूछ रहे हैं; दूसरा, भाजपा को प्रदेश की सत्ता में अपनी वापसी में सपा और उसके साथ आने वाली कांग्रेस समेत तमाम पार्टियों का डर सता रहा है।

काठ की हांडी दोबारा चढ़ाने के खयाल से अयोध्या की तरह अखाड़ा परिषद और 'संत समाज' ने मथुरा में 9 अगस्त 2026 को कारसेवा का ऐलान किया है। परिषद में कुल 13 अखाड़े हैं और लगभग 5 लाख से ज्यादा साधु-संत इससे जुड़े हैं। परिषद की वेबसाइट के मुताबिक, 'उसकी मुख्य जिम्मेदारी कुंभ का सुव्यवस्थित आयोजन है।' राधाकुंड स्थित जुल्हैदी चित्रगुप्त पीठाधीश्वर स्वामी सच्चिदानंद महाराज, निर्मोही अखाड़े के राष्ट्रीय प्रवक्ता संत सीताराम दास महाराज, वृंदावन-छटीकरा रोड स्थित राधाकृष्ण आश्रम में धार्मिक आयोजन की समाप्ति के बाद हुए संत सम्मेलन को संबोधित करते हुए स्वामी अभिषेक ब्रह्मचारी वगैरह ने भी कारसेवा की बात कही है।

लेकिन इस सबसे माहौल गर्म नहीं हो रहा। 14 जुलाई की दोपहर मथुरा में श्रीकृष्णजन्मभूमि के मुख्य द्वार के बाहर आइसक्रीम कार्ट लेकर खड़े राकेश ने भी इतना ही कहा- कारसेवा की बात 'सुन तो रहे हैं'। एक स्थानीय फैक्ट्री में 10 घंटे की ड्यूटी के बाद बाइक से मथुरा-वृंदावन के बीच लोगों को राइड सेवा देने वाले युवा जीतू चौधरी भी कहते हैं कि 'मुझे नहीं पता, कौन कारसेवा की बात कर रहा।' मथुरा कांग्रेस के उपाध्यक्ष आदित्य तिवारी तो कहते हैं कि 'अयोध्या में भाजपा, आरएसएस और विहिप से जुड़े लोगों ने कारसेवा की थी, तब भी राज्य में कल्याण सिंह की अगुवाई वाली भाजपा सरकार थी और अब वैसा ही माहौल मथुरा में बनाने की कोशिश चल रही। लेकिन यह सफल होने वाली नहीं है।'

मथुरा ईदगाह कमिटी के सचिव तनवीर अहमद कहते हैं कि 'ऐसी तारीखों की पहले भी घोषणा हुई है। मथुरा धार्मिक शहर है लेकिन यहां के लोग भाईचारे में यकीन रखते हैं। कारसेवा की बात करने वाले बाहरी हैं। मंदिर और मस्जिद पक्ष में 1968 में जो समझौता हुआ, शाही ईदगाह मस्जिद कमेटी उसी पर कायम है। समझौता रजिस्टर्ड है और कोर्ट से डिक्री भी किया गया है।'

दरअसल, 1968 में श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा संस्थान और शाही ईदगाह ट्रस्ट के बीच समझौता हुआ था। इसे 1973 में न्यायालय की डिक्री के जरिये लागू किया गया। 'द हिन्दू' के मुताबिक, सेवा संस्थान ने भूमि का एक हिस्सा शाही ईदगाह को दे दिया था। हालांकि वर्तमान में दायर मुकदमों में इस समझौते को कपटपूर्ण बताते हुए चुनौती दी गई है और पूरी भूमि श्रीकृष्ण विराजमान (देवता) के नाम हस्तांतरित करने की मांग की गई है। हिन्दू पक्ष के याचिकाकर्ताओं का यह भी कहना है कि 'जिस जमीन पर शाही मस्जिद ईदगाह बनी है, वह भूमि श्रीकृष्ण जन्मस्थान की है। ऐसे में मुस्लिम पक्ष ढांचा हटा ले।'

सुप्रीम कोर्ट ने लोक अदालत के जरिये काशी, मथुरा, संभल के मामले भी सुलझाने की सलाह दी है। (देखें पेज 1 की खबर) तनवीर बताते हैं कि '21, 22, 23 अगस्त को राष्ट्रव्यापी विशेष लोक अदालत के आयोजन के तहत हर जिले की सभी पेन्डिंग विशेष अनुमति याचिकाओं को लेकर जिलावार नोटिस गया है। इसमें कहा गया है कि किसी भी मामले में सुलह की कोई स्थिति बनती है, तो उसे सुनकर सुलह कर लिया जाए। मथुरा जनपद में ऐसे 23 मामले हैं। सिर्फ श्रीकृष्णजन्मभूमि-ईदगाह के मामले में नोटिस नहीं आया है।' वह कहते हैं कि 'मथुरा के केस में पहला दावा रंजना अग्निहोत्री का है, और उनके वकील हरिशंकर जैन ने कहा है कि वह न्यायालय से न्याय चाहते हैं। इस केस में 18 मामले इलाहाबाद हाईकोर्ट में हैं, सुप्रीम कोर्ट में करीब 10 एसएलपी हैं। प्रत्येक वादी का अपना पक्ष है। कोई भी एकमत नहीं।' वैसे, तनवीर को पता नहीं है कि इससे पहले क्या कभी लोक अदालत के जरिये मामले को सुलझाने की पहल हुई। हालांकि अयोध्या केस में सुप्रीम कोर्ट के फैसले से पहले विभिन्न नागरिक संगठनों के जरिये 'आउट ऑफ कोर्ट' सुलह की कोशिशें हुईं, लेकिन कोई हल नहीं निकला।

*

भाजपा मथुरा में राजनीतिक गर्मी लाने की कोशिश में है, लेकिन लगभग 10 किलोमीटर दूर वृंदावन में

फोटो: नंदलाल शर्मा

मथुरा में श्री कृष्ण जन्मभूमि मंदिर का मुख्य प्रवेश द्वार

काशी और मथुरा हमेशा से भाजपा-आरएसएस के राजनीतिक एजेंडे में रहे हैं, लेकिन अब हालात बदल गए हैं। अयोध्या जैसा माहौल बनाने की कोशिशें सफल नहीं होने वाली

कॉरिडोर बनाने के मसले पर उसके, एक तरीके से, पसीने छूटे हुए हैं। इन पंक्तियों का लेखक 14 जुलाई को बांकेबिहारी मंदिर की गलियों में गया, तो एक पेन्टर मकान चिह्नित करने के काम में जुटा दिखा। वह एक दीवार पर 'संपत्ति- श्री ठाकुर बांके बिहारीजी महाराज (देवता), वृंदावन' लिख रहा था। मतलब कि प्रशासन ने यह संपत्ति खरीद ली है। ऐसे 20 से ज्यादा मकान खरीदे गए हैं। मंदिर के सामने जंगलकट्टी क्षेत्र में कुल 285 मकान चिह्नित हैं, जिन्हें तोड़ा जाना है।

स्थानीय सामाजिक कार्यकर्ता दीपक पाराशर कहते हैं- 'इन 285 मकानों में 30-35 मंदिर हैं, जो 400-500 साल पुराने हैं। प्रशासन सबको तोड़ने की तैयारी में है। इससे वृंदावन की सभ्यता और संस्कृति खतरे में है।' गौरतलब है कि 285 घरों में सिर्फ 30 से ज्यादा घर गोस्वामी समाज के हैं, बाकी आम ब्रजवासियों के। इनमें ज्यादातर ब्राह्मण समाज से ताल्लुक रखते हैं, जिनका मुख्य काम पूजा-अर्चना है।

देश भर के हिन्दू धार्मिक स्थलों में कॉरिडोर बनाने का क्रम चल रहा है। वाराणसी, उज्जैन में इसी तरह कॉरिडोर बने और अब बारी है यहां वृंदावन और असम में कामाख्या की है। बहाना यह कि वृंदावन में अगस्त 2022 में जन्माष्टमी के दौरान बांके बिहारी मंदिर में मची भगदड़ में दो श्रद्धालुओं की मौत हो गई थी। ऐसी भीड़ पर नियंत्रण के लिए प्रदेश सरकार ने प्रस्ताव किया, तो इलाहाबाद हाईकोर्ट ने भी बांके बिहारी कॉरिडोर परियोजना पर सहमति दे दी। वर्ष 2025 में राज्य सरकार ने उत्तर प्रदेश श्री बांके बिहारीजी मंदिर ट्रस्ट अध्यादेश, 2025 लागू कर मंदिर प्रबंधन के लिए एक ट्रस्ट बनाया।

गोस्वामी समाज ने इसके जरिये मंदिर के पारंपरिक प्रबंधन और उनके वंशानुगत अधिकारों के अधिग्रहण का आरोप लगाते हुए इसे सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी, जिसपर अभी अंतिम फैसला नहीं आया है। लेकिन मई 2025 में सुप्रीम कोर्ट ने राज्य सरकार को शर्तों के साथ कॉरिडोर के लिए लगभग पांच एकड़ भूमि अधिग्रहित करने हेतु मंदिर कोष का उपयोग करने की अनुमति भी दी, और स्पष्ट किया कि खरीदी जाने वाली भूमि का पंजीकरण भगवान श्री बांके बिहारी (देवता) के नाम पर होगा।

सामाजिक कार्यकर्ता दीपक पाराशर कॉरिडोर के लिए संपत्ति खरीद में अनियमितता का आरोप लगाते हैं- 'प्रशासन एक ही मूल संपत्ति के विभिन्न भागों का अलग-अलग मूल्यांकन कर रहा है। अभी तक कॉरिडोर परियोजना की विस्तृत डीपीआर सार्वजनिक नहीं हुई और संपत्ति की खरीद शुरू हो गई है।' उनका आरोप है कि 'प्रशासन दबाव डालकर संपत्तियां खरीद रहा। मंदिर के नवनियुक्त गोस्वामी सदस्यों को भूमि क्रय संबंधित दस्तावेज भी नहीं दिए जा रहे।'

बांके बिहारी मंदिर के तीर्थ पुरोहित सोहनलाल मिश्र, कॉरिडोर परियोजना का विरोध कर रहे गोस्वामी समाज के आंदोलन का प्रमुख चेहरा हैं। वह कहते हैं कि 'कॉरिडोर की बात केवल बाहरी लोग कर रहे, वास्तव में जिसकी जरूरत ही नहीं है।' वह कहते हैं कि 'काशी, अयोध्या या उज्जैन- हर जगह सत्ता-शीर्ष से जुड़े लोग ही नियुक्त किए गए हैं। राममंदिर में चोरी भी ऐसे ही लोगों ने की। यही हाल वृंदावन का है। यहां भी 1 रुपये का सामान 50 रुपये में आ रहा है। स्थानीय पुरोहित मंदिर में सीधे नहीं जा सकते, उन्हें ढाई किलोमीटर का चक्कर काट कर जाना पड़ता है और बाहर से आने वाले धन्नासेठों को सीधे एक नंबर गेट से प्रवेश मिल जाता है।'

स्थानीय पत्रकार सुरेंद्र चतुर्वेदी कहते हैं कि गोस्वामी समाज के लोग अब तक तो अपनी लड़ाई में कामयाब हैं। कॉरिडोर के लिए संपत्तियों की खरीद में प्रशासन को बहुत कम सफलता मिली है, लेकिन ऐसा कब तक रहेगा, कोई नहीं जानता, क्योंकि राज्य सरकार की दिलचस्पी बांके बिहारी मंदिर में है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

वैसे, इस किस्म के भूमि अधिग्रहण, खरीद-फरोख्त, निर्माण और प्रबंधन आदि में सत्ता-सरकारी तंत्र की दिलचस्पी के कारण बिना ज्यादा कुछ लिखे-कहे समझे जा सकते हैं। ■

अमेरिका के बिना जीना सीख रहे खाड़ी के देश

अमेरिका के साथ सुरक्षा के अपने भ्रम से निकलकर नई जमीनी हकीकत से तालमेल बैठाने की कोशिश में

अशोक स्वैन

कभी सुरक्षा के प्रतीक माने जाने वाले अमेरिकी सैन्य अड्डे अचानक ही खतरे का केन्द्र बन गए हैं। खाड़ी के राजशाही देशों में ऐसी स्थिति बन रही है, जहां दशकों से उनकी सुरक्षा की गारंटी देने वाला देश खुद ही क्षेत्र के प्रतिस्पर्धी सहयोगियों के बीच फंस सकता है

एक अस्थिर युद्धविराम के बाद पश्चिम एशिया में फिर से बढ़ते तनाव के बीच, खाड़ी की राजशाही एक असहज सच का सामना कर रही है। पुरानी सुरक्षा व्यवस्था भले पूरी तरह ढही न हो, लेकिन उसकी साख तो जाती ही रही। दशकों तक खाड़ी देश अमेरिकी सुरक्षा छतरी के नीचे रहे, जहां वे तेल, सैन्य अड्डों के अधिकार और रणनीतिक वफादारी के बदले सुरक्षा, हथियार और राजनयिक समर्थन खरीदते थे। यह सौदा बराबरी का नहीं था, लेकिन भरोसेमंद था। ईरान से युद्ध ने इन पुरानी धारणाओं का खोखलापन जाहिर कर दिया।

कोई भी देश इस बात को सऊदी अरब से बेहतर नहीं समझता, जो खाड़ी व्यवस्था का रणनीतिक केन्द्र है। जब रियाद अपनी नीतियों में बदलाव करता है, तो पूरा क्षेत्र उसका अनुसरण करता है। कतर मध्यस्थता करना जारी रख सकता है, संयुक्त अरब अमीरात अपनी विदेश नीति पर चल सकता है, ओमान अपनी तटस्थता बनाए रख सकता है, और बहरीन तथा कुवैत क्षेत्रीय तनाव के जोखिमों को संभालने के लिए दोनों पक्षों से जुड़कर अपना दांव सुरक्षित करने की कोशिश कर रहे हैं। फिर भी, खाड़ी की सुरक्षा का भविष्य आखिरकार सऊदी अरब के इस निष्कर्ष से तय होगा कि वाशिंगटन पर पूरी तरह निर्भर रहना रणनीतिक जोखिम बन चुका है।

ईरान युद्ध ने अमेरिका को अप्रासंगिक नहीं बनाया है, बल्कि उसने इसे अपर्याप्त बना दिया है। अमेरिका की सैन्य शक्ति अब भी खाड़ी में बेजोड़ है, लेकिन उसके विवेक पर उन देशों का यकीन कम हुआ है, जिन्होंने वाशिंगटन को ईरान और इसराइल के टकराव में कूदते देखा है जिसे टाला जा सकता था और अब खाड़ी के तमाम देश इसका खामियाजा भुगत रहे हैं। अमेरिकी सैन्य अड्डे, जिन्हें कभी सुरक्षा का प्रतीक माना जाता था, अचानक असुरक्षा का केन्द्र बन गए हैं। कतर, बहरीन, कुवैत और यूएई सीख रहे हैं कि अमेरिकी सेनाओं को अपने यहां पनाह देने का मतलब पश्चिम एशिया में अमेरिका के दुश्मन के गुस्से का सामना करना है। हालांकि सऊदी अरब सीधे हमलों से बच गया है, लेकिन उसने भी बिल्कुल यही निष्कर्ष निकाला है।

खाड़ी देशों की सुरक्षा दुविधा तब और जटिल हो गई जब इसराइल ने अचानक अपना ध्यान ईरान से हटाकर तुर्की पर केन्द्रित कर दिया। तुर्की के राष्ट्रपति एर्दोगन ने इसराइल पर बार-बार विस्तारवाद का आरोप लगाया है, जबकि इसराइली नेता सीरिया में तुर्की की बढ़ती सैन्य मौजूदगी और व्यापक क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं को दीर्घकालिक रणनीतिक खतरे के रूप में देखते हैं। राजनयिक विवाद के रूप में शुरू हुआ टकराव अब एक भू-राजनीतिक टकराव में बदल रहा है जो इस क्षेत्र को अस्थिरता के एक और चक्र के मुहाने की ओर ले जा रहा है।

खाड़ी के नेताओं के लिए इसराइल-तुर्की की यह दुश्मनी परेशान करने वाली है क्योंकि दोनों अमेरिका के भागीदार हैं और अमेरिका अपने दो ऐसे सहयोगियों के बीच संतुलन बनाने की कोशिश कर रहा है जो एक-दूसरे पर यकीन नहीं करते। ट्रंप प्रशासन ने अंकारा के साथ रिश्तों को सुधारने की कोशिश की है, और संकेत दिया है कि वह तुर्की की एफ-35 लड़ाकू विमान कार्यक्रम तक पहुंच को बहाल कर सकता है। इसराइली प्रधानमंत्री नेतन्याहू ने इसपर चेतावनी दी कि तुर्की को उन्नत अमेरिकी विमान देने से क्षेत्रीय शक्ति संतुलन बुनियादी तौर पर बदल जाएगा। अमेरिका अब भी इसराइल का प्राथमिक और अनिवार्य सैन्य संरक्षक है। खाड़ी की राजशाहियों का दशकों पुराना सुरक्षा गारंटर खुद क्षेत्रीय ताकतों के बीच उलझता दिख रहा है।

क्राउन प्रिंस मोहम्मद बिन सलमान के लिए यह घटनाक्रम कोई काल्पनिक भू-राजनीतिक चिंता नहीं। वे उनके 'विजन 2030' की राष्ट्रीय परिवर्तन योजना को पटरी से उतार सकते हैं जो बड़े विदेशी निवेश, तेल पर निर्भरता घटाने, पर्यटन तथा ऊर्जा विविधीकरण, और राजनीतिक स्थिरता एवं इस धारणा पर टिकी है कि सऊदी अरब निवेश और व्यापार के लिए सुरक्षित जगह है। क्षेत्रीय युद्ध इन महत्वाकांक्षाओं के लिए खतरा हैं। सऊदी अरब के भविष्य को नुकसान पहुंचाने के लिए मिसाइलों का रियाद पर गिरना ही जरूरी नहीं; राजनीतिक अनिश्चितता व्यापारिक अनिश्चितताएं पैदा करती है, जो निवेशकों को दूर रख सकती है।

इसराइल और तुर्की की बढ़ती दुश्मनी इन जोखिमों को और बढ़ा देती है। सीरिया मुख्य अखाड़ा बन गया है जहां उनके हित टकरा रहे हैं। उत्तरी सीरिया में तुर्की की सैन्य तैनाती और उसे रोकने का इसराइली प्रयास दोनों देशों को सीधे टकराव में लाता है। क्षेत्रीय विश्लेषकों के मुताबिक, इसराइली और तुर्की की सेनाओं में टकराव बेशक कभी अकल्पनीय था, अब संभव है। कोई भी तनाव खाड़ी में असर डालेगा, जिससे व्यापार, निवेश और ऊर्जा बाजार बाधित होंगे औरवाशिंगटन भी इसमें उलझ जाएगा।

> ईरान युद्ध ने पश्चिम एशिया में अमेरिका को अप्रासंगिक नहीं बनाया है, लेकिन खाड़ी देशों की राजधानियों में उसके फैसलों और प्रभाव पर भरोसा कम हुआ है

यही वजह है कि सऊदी अरब चुपचाप एक अलग सुरक्षा ढांचा तैयार कर रहा है। वह अमेरिका का साथ नहीं छोड़ रहा है। रियाद समझता है कि अमेरिकी सैन्य क्षमता, उसकी मिसाइल रक्षा प्रणालियों, खुफिया नेटवर्क और राजनयिक प्रभाव का कोई विकल्प नहीं। चीन की खाड़ी में सैन्य जिम्मेदारियां लेने की कोई इच्छा नहीं है। रूस के पास न तो क्षमता है और न साख। पाकिस्तान और तुर्की साझेदारियां तो दे सकते हैं लेकिन वे अमेरिकी सुरक्षा व्यवस्था की जगह नहीं ले सकते। इसराइल के पास दुर्जेय सैन्य क्षमताएं हैं और वह एक अस्थिर विरोधी है।

रियाद उन्नत अमेरिकी हथियार खरीदना जारी रखे हुए है और साथ ही तुर्की, पाकिस्तान, दक्षिण कोरिया, चीन और यूरोप के साथ रक्षा सहयोग बढ़ा रहा है। वह घरेलू हथियारों के उत्पादन, ड्रोन तकनीक, मिसाइल रक्षा और साइबर क्षमताओं में भारी निवेश कर रहा है। वह वैकल्पिक व्यापार मार्गों, पाइपलाइनों और रसद गलियारों की तलाश कर रहा है जो होर्मुज जलडमरूमध्य जैसे संवेदनशील समुद्री मार्गों पर निर्भरता को कम करते हैं।

सऊदी अरब ने इस हकीकत को मान लिया है जिसे कई लोग नजरअंदाज करते हैंः कि खाड़ी में किसी भी सुरक्षा समीकरण के लिए ईरान को शामिल करना होगा। उसे रोका जा सकता है, नियंत्रित किया जा सकता है, प्रतिबंधित किया जा सकता है या उसके साथ बातचीत की जा सकती है, लेकिन उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। ईरान एक भौगोलिक वास्तविकता है और उसके पास क्षमताएं हैं। उसके पास मिसाइलें, ड्रोन, छद्म नेटवर्क और समुद्री व्यापार को बाधित करने की क्षमता है। युद्ध दिखा रहा है कि एक कमजोर ईरान भी अपने पड़ोसियों पर भारी लागत थोपने की क्षमता रखता है। इसलिए, तेहरान के साथ सऊदी का रिश्ते सुधारना इसी जमीनी हकीकत को स्वीकार करना है।

यही यथार्थवाद तुर्की और इसराइल के प्रति रियाद के नजरिये को भी आकार देता है। सऊदी अरब इनसे दुश्मनी नहीं चाहता। वह अंकारा के साथ सहयोगात्मक संबंध चाहता है-जिसका बढ़ता रक्षा उद्योग एक बड़ा आकर्षण है- भले ही वह जरूरत पड़ने पर इसराइल से भी सीधे रिश्ते बनाए रखता हो। यूएई ईरान पर अविश्वास करने और इसराइल के साथ सहयोग करने को लेकर कोई पर्दा नहीं रखता। कतर मध्यस्थता को अपनी सुरक्षा नीति के रूप में देखता है, और ओमान तेहरान के लिए खाड़ी का एक अनिवार्य पुल बना हुआ है। कुवैत और बहरीन दोनों ने सावधानी से अपने दांव सुरक्षित करने की कोशिश की है, यहां तक कि ईरान की ओर राजनयिक हाथ भी बढ़ाया है, लेकिन यह संतुलन बेहद नाजुक है, जैसा कि इन देशों में अमेरिकी अड्डों पर हालिया ईरानी हमलों के दावों से साफ होता है।

सऊदी अरब कुछ अधिक महत्वाकांक्षी करने की कोशिश कर रहा हैः एक नई क्षेत्रीय व्यवस्था बनाना जिसमें अमेरिका अभी भी अनिवार्य हो लेकिन सुरक्षा का एकमात्र गारंटर न हो; ईरान के साथ रिश्ते रखे जाएं भले उसपर अविश्वास हो; तुर्की एक अहम रणनीतिक भागीदार हो; चीन एक आर्थिक स्तंभ हो और इसराइल एक शक्तिशाली क्षेत्रीय खिलाड़ी बना रहे।

इस मोड़ पर यह साफ नहीं है कि यह नाजुक संतुलन सफल होगा या नहीं। खाड़ी देशों के पास सैन्य हथियारों की कमी नहीं है, लेकिन उनके पास सामूहिक सुरक्षा तंत्र की कमी है। ईरान युद्ध ने दिखाया है कि सबसे परिष्कृत हथियार प्रणालियां भी सुरक्षा की गारंटी नहीं दे सकतीं। युद्ध ने ऊर्जा बुनियादी ढांचे, समुद्री पानी को शुद्ध करने वाले संयंत्रों और आपूर्ति श्रृंखलाओं की संवेदनशीलता को उजागर किया है और इसके विस्तार से खाड़ी की इन अर्थव्यवस्थाओं में भविष्य के संभावित निवेशों के जोखिम को भी सामने ला दिया है। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

तेजी से आगे निकलने वाली नेता की वापसी

शेख हसीना ने स्वेच्छा से बांग्लादेश लौटने का जो अचानक ऐलान किया है, उसके छिपे हुए राजनीतिक और कूटनीतिक मायने हैं

फैसल महमूद

फोटोः गेटी इमेजेज

निर्वासित जीवन बिता रही बांग्लादेश की पूर्व प्रधानमंत्री शेख हसीना जिन्होंने स्वदेश लौटने का ऐलान किया है

अगस्त 2024 से भारत में निर्वासित जीवन बिता रहीं शेख हसीना का अचानक ऐलान कि वह इस साल के अंत तक बांग्लादेश लौटने की योजना बना रही हैं, चौंकाने वाला जरूर था लेकिन अप्रत्याशित नहीं। छात्र आंदोलन के कारण बांग्लादेश से भागने के बाद लगभग दो सालों तक वह आक्रामक रुख अपनाए रहीं और अपनी प्रतिबंधित अवामी लीग पार्टी को किसी तरह जिंदा रखने की कोशिश करती रहीं। उन्होंने लौटने और फिर से चुनाव लड़ने की बातें भी कीं, लेकिन उनके समर्थक भी जानते हैं कि 78 साल की उम्र में उनकी राजनीतिक वापसी की संभावनाएं बेहद कम हैं।

समाचार एजेंसी रॉयटर्स को दिए साक्षात्कार में अपदस्थ पूर्व प्रधानमंत्री ने स्वीकार किया कि लौटने पर उन्हें गिरफ्तार किया जा सकता है, फांसी दी जा सकती है या उनकी हत्या भी हो सकती है। फिर भी उन्होंने जोर देकर कहा कि उनके पास और विकल्प नहीं। उन्होंने भावुक होते हुए कहा कि वह उसी मिट्टी पर मरना चाहती हैं जहां उनके मां-बाप दफन हैं और जहां उनका खून बहा था। इंटरनेशनल क्राइम्स ट्रिब्यूनल ने नवंबर 2025 के प्रदर्शनों के दौरान मानवता के खिलाफ अपराधों के लिए उन्हें मौत की सजा सुनाई थी। इसके बाद उन पर हत्या और भ्रष्टाचार के कई मुकदमे दर्ज हुए। ढाका ने बार-बार भारत को उनके प्रत्यर्पण के अनुरोध भेजे, लेकिन नई दिल्ली ने इसपर सार्वजनिक मौन का रास्ता चुना।

बहरहाल, बांग्लादेश की सरकार ने हसीना की इस घोषणा का स्वागत किया है। साथ ही आगाह भी किया है कि बांग्लादेश में कदम रखते ही उन्हें गिरफ्तार किया जाएगा और मुकदमा चलाने के लिए जेल भेज दिया जाएगा। भारत ने आधिकारिक तौर पर कहा है कि प्रत्यर्पण के अनुरोध की कानूनी जांच की जा रही है और भारत के रुख में कोई बदलाव नहीं आया है। भारत ने औपचारिक रूप से शेख हसीना को 'राजनीतिक शरण' नहीं दी है। अगस्त 2024 में सत्ता से बेदखल होने के बाद से वह भारत में रह रही हैं, जिसे अधिकारी एक 'विशेष आतिथ्य' व्यवस्था बताते हैं, लेकिन उनकी वास्तविक कानूनी स्थिति को जानबूझकर अस्पष्ट रखा गया है।

निर्वासन में रह रही पूर्व प्रधानमंत्री की यह घोषणा दिखाती है कि उनके राजनीतिक विकल्प कितने सिमट चुके हैं। तख्तापलट के बाद भारत भाग आने के बाद यह पहली बार है जब उनका निर्वासन अब अनिश्चित नजर आ रहा है। ढाका से बढ़ता कानूनी दबाव, भारत का नाजुक कूटनीतिक संतुलन, उनकी पार्टी के ढांचे का बिखरना और घटता जनसमर्थन-इन सबने उनके लिए बहुत कम गुंजाइश छोड़ी है। अब सवाल यह नहीं है कि शेख हसीना वापस जाना चाहती हैं या नहीं, बल्कि सवाल यह है कि क्या परिस्थितियां उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर कर रही हैं।

> भारत में निर्वासित शेख हसीना के पास राजनीतिक विकल्प बेहद सीमित हो चुके हैं। ढाका के कानूनी दबाव और नई दिल्ली की कूटनीतिक दुविधा से साफ है कि उनका यह फैसला परिस्थितियों के दबाव के कारण है

हसीना ने एक संभावित समय सारिणी की भी घोषणा की है, जिसमें उन्होंने स्वेच्छा से समर्पण की मंशा जताई है। उन्होंने कहा कि उनके साथ पार्टी के वरिष्ठ नेता भी होंगे, जिनमें पूर्व गृह मंत्री असदुज्जमा खान कमाल भी शामिल हैं, जिन्हें मौत की सजा सुनाई जा चुकी है। इतने समन्वित ऐलान को महज एक राजनीतिक नाटक कहकर खारिज करना मुश्किल है।

भारत ने लगातार यह बताने से इनकार किया है कि क्या वह प्रत्यर्पण के अनुरोधों को स्वीकार करने का इरादा रखता है। विदेश मंत्रालय के अधिकारियों ने कहा कि उनकी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है, और प्रत्यर्पण 'एक कानूनी मुद्दा है जिससे उसी के अनुसार निपटा जाएगा।' कूटनीतिक भाषा अक्सर घोषणाओं से ज्यादा अपनी चुप्पी के जरिये बहुत कुछ बयां कर देती है।

नई दिल्ली ने ढाका के अनुरोधों को सीधे तौर पर खारिज करने से परहेज किया है। इसके साथ ही एक और बात गौर करने वाली हैः अगस्त 2024 से उनकी मेजबानी करने के बावजूद, भारत ने उन्हें कभी भी सार्वजनिक रूप से राजनीतिक शरण नहीं दी। यह एक महत्वपूर्ण अंतर है। राजनीतिक शरण देने का मतलब उन्हें अनिश्चित काल के लिए सुरक्षा प्रदान करने की प्रतिबद्धता होता।

इसके बजाय, वह एक संवेदनशील अतिथि बनी हुई हैं जिनकी उपस्थिति बांग्लादेश की नई सरकार के साथ संबंध सुधारने के भारत के प्रयासों को जटिल बनाती है। भारत ने प्रधानमंत्री तारिक रहमान के शपथ ग्रहण समारोह में एक बड़ा प्रतिनिधिमंडल भेजा था। इसके बाद बांग्लादेश के विदेश मंत्री ने नई दिल्ली की यात्रा की, जो सरकार बदलने के बाद से सबसे महत्वपूर्ण द्विपक्षीय बातचीत थी। दोनों देशों ने चुपचाप व्यापार, कनेक्टिविटी और क्षेत्रीय सुरक्षा पर चर्चा शुरू कर दी है। इस पृष्ठभूमि में, बांग्लादेशी राजनीति की सबसे ध्रुवीकरण करने वाली शख्सियत को अनिश्चित काल तक पनाह देना भारत के लिए मुश्किल होता जा रहा है।

भारत के लिए यह दुविधा गहरी है। 15 से ज्यादा सालों तक नई दिल्ली ने हसीना सरकार पर भारी दांव खेला। उनकी सरकार दक्षिण एशिया में भारत की सबसे करीबी रणनीतिक भागीदार बन गई थी, जिसने पूर्वोत्तर के उग्रवादियों के खिलाफ अभूतपूर्व सुरक्षा सहयोग देने के साथ-साथ आर्थिक एकीकरण और क्षेत्रीय कनेक्टिविटी को बढ़ावा दिया। ऐसे सहयोगी को पूरी तरह छोड़ देने से इस पूरे क्षेत्र के अन्य भागीदारों के बीच भारत की साख को नुकसान पहुंचने का जोखिम है।

फिर भी, मानवता के खिलाफ अपराधों के लिए मौत की सजा पा चुकी एक पूर्व नेता को लगातार संरक्षण देने की भी कूटनीतिक कीमत है। संयुक्त राष्ट्र का अनुमान है कि प्रदर्शनकारियों पर की गई कार्रवाई के दौरान कम से कम 1,400 लोग मारे गए थे, जिसके कारण अंततः हसीना की सरकार गिर गई थी। हालांकि वह इन निष्कर्षों को खारिज करती हैं, लेकिन आरोपों का पैमाना उन्हें एक कूटनीतिक बोझ बना देता है। ढाका से आने वाला प्रत्यर्पण का हर अनुरोध इस दबाव को और बढ़ाता है। द्विपक्षीय संबंधों में होने वाला हर सुधार नई दिल्ली के लिए इस मामले को टालते रहने की गुंजाइश को कम करता जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि भारत उन्हें प्रत्यर्पित करने की तैयारी कर चुका है। इसकी कानूनी प्रक्रिया बेहद जटिल है। भारतीय अदालतें इस संभावना को तौल सकती हैं कि उन्हें निष्पक्ष सुनवाई का मौका मिलेगा या नहीं। लेकिन भारत के लिए अपनी इस अस्पष्टता का बचाव करना अब मुश्किल होता जाएगा।

आज दुनिया के बहुत कम देश ऐसे होंगे जो कई आपराधिक मामलों और बार-बार आ रहे प्रत्यर्पण अनुरोधों का सामना कर रहे किसी अपदस्थ नेता को स्वेच्छा से स्वीकार करेंगे। पश्चिमी लोकतंत्रों द्वारा एक ऐसे व्यक्ति के कारण कूटनीतिक टकराव मोल लेने की संभावना बेहद कम है जिस पर सामूहिक नरसंहार को अंजाम देने का आरोप हो। यहां तक कि खाड़ी की राजशाहियों ने भी राजनीतिक रूप से विवादास्पद निर्वासित नेताओं की मेजबानी में खास दिलचस्पी नहीं दिखाई है।

बांग्लादेश के प्रधानमंत्री के सूचना सलाहकार जाहेद उर रहमान ने कहा कि वह हसीना को वापस लाने की कोशिश कर रहे हैं। उन्होंने इन आशंकाओं को खारिज कर दिया कि उनकी वापसी से देश में अस्थिरता आ सकती है। उन्होंने जोर देकर कहा कि अब उनका कोई राजनीतिक भविष्य नहीं बचा है। उन्होंने कहा कि न्यायाधिकरण की कार्यवाही पारदर्शी होगी और अंतरराष्ट्रीय पड़ताल के लिए खुली रहेगी। यह आत्मविश्वास दर्शाता है कि छात्र आंदोलन के बाद से बांग्लादेश का राजनीतिक परिदृश्य कितना बदल चुका है।

अपने पतन से पहले, अवामी लीग और राज्य सत्ता एक-दूसरे के पर्याय नजर आते थे। दो दशकों तक सत्ता में रहने के कारण हसीना ने सभी प्रमुख फैसलों को अपने हाथों में ले रखा था। सभी संस्थाएं उनके व्यक्तिगत प्रभाव के इर्द-गिर्द घूमती थीं। उनके अचानक चले जाने से सत्ता के इस केंद्रीयकरण के नतीजे खुलकर सामने आ गए। कई वरिष्ठ नेता देश छोड़कर भाग गए, जबकि तमीम अब भी भूमिगत हैं।

हसीना का यह स्वीकार करना कि व्यावहारिक रूप से सभी पार्टी कार्यकर्ताओं को कानूनी कार्रवाई का सामना करना पड़ेगा, और उनका सामूहिक समर्पण का प्रस्ताव, वास्तव में संगठनात्मक मनोबल बढ़ाने और एकजुटता दिखाने का प्रयास हो सकता है। प्रत्यर्पित होने के बजाय स्वेच्छा से लौटना शायद उन्हें अपनी राजनीतिक साख को कुछ हद तक बचाए रखने में मदद करे।

वह अपने समर्पण को जबरन निष्कासन के बजाय राजनीतिक उत्पीड़न के खिलाफ एक सैद्धांतिक स्टैंड के रूप में पेश करने की कोशिश करेंगी। लेकिन लौटने का मतलब तत्काल गिरफ्तारी, जेल और उसके बाद चलने वाली आपराधिक कार्यवाही भी है। छात्रों की मौत अब भी एक खुला जख्म है और जनता का गुस्सा कभी भी सुरक्षा के लिए चुनौती बन सकता है। फिर भी, हसीना के लिए भारत में उनका यह निर्वासन अब एक बंद गली की तरह हो चुका है। ■

फैसल महमूद ढाका में रहने वाले वरिष्ठ पत्रकार हैं

लोगों को सूची से बाहर करने का नया रास्ता

पूरे देश में एसआईआर लागू होने के बीच, असम के एनआरसी से मिले सबक अब भी नहीं सीखे गए हैं

आकार पटेल

कानून-व्यवस्था न मानने वाले देशों में एक आम बात यह होती है कि वहां मनमानी कार्रवाई को लेकर लोगों में बहुत ज्यादा बेचैनी होती है। मध्याकालीन पाठों से पता चलता है कि हमारे यहां हमेशा से ऐसा ही होता आया है। क्रूरता को प्रक्रिया का रूप दे दिया जाता है और लाखों लोगों को यातनाएं दी जाती हैं। पूरे भारत में 'स्पेशल इंटेंसिव रिविज़न' (एसआईआर) फॉर्म बांटे जा रहे हैं। भले ही पढ़ने वाला कितना भी पढ़ा-लिखा क्यों न हो, इस फॉर्म को पहली बार पढ़ने पर यह समझना नामुमकिन है कि असल में क्या करना है, जबकि यह सिर्फ एक पन्ने का है।

कार्यपालिका और न्यायपालिका का कहना है कि हमें इस प्रक्रिया से गुजारना न सिर्फ उचित है, बल्कि जरूरी और आवश्यक भी है। निस्संदेह, हम पहले भी इस रास्ते से गुजर चुके हैं।

1998 में, असम के राज्यपाल और सेवानिवृत्त सैन्य अधिकारी एस के सिन्हा ने तत्कालीन राष्ट्रपति के आर नारायणन को एक नोट भेजा था, जिसमें उन्होंने वहां के हालात को चिंताजनक बताते हुए कहा था: 'कई दशकों से पूर्वी पाकिस्तान/बांग्लादेश से बड़े पैमाने पर हो रहे अवैध प्रवास ने इस राज्य की जनसांख्यिकीय बनावट को बदल दिया है। यह असमिया लोगों की पहचान और हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा, दोनों के लिए गंभीर खतरा है। केन्द्र और राज्य में रही सरकारों ने इस चुनौती का ठीक से सामना नहीं किया है।'

दोनों फोटो: गेटी इमेजेज
नई दिल्ली में एसआईआर के तहत निवासियों की जानकारी की जांच करते बूथ लेवल अधिकारी

सिन्हा ने उस गंभीर खतरे को टालने के लिए कार्रवाई की मांग की थी जो कुछ समय से बढ़ रहा था। उन्होंने लिखा '... अगर इसे प्रभावी ढंग से नहीं रोका गया, तो (बांग्लादेशी) असमिया लोगों पर हावी हो सकते हैं और पूर्वोत्तर के इलाके को भारत के बाकी हिस्सों से अलग कर सकते हैं। इसके रणनीतिक और आर्थिक रूप से विनाशकारी नतीजे होंगे।'

सिन्हा ने यह माना था कि यह अनुमान किसी डेटा पर आधारित नहीं था। उन्होंने आगे कहा: 'दुर्भाग्य से, आज हमारे पास ऐसी कोई जनगणना रिपोर्ट नहीं है जिसके आधार पर हम सीमा पार आवाजाही के दायरे को ठीक-ठीक बता सकें। इसलिए, पूर्वी पाकिस्तान/बांग्लादेश से हुई अवैध घुसपैठ के पैमाने का पता लगाने के लिए हमें मोटे अनुमानों और अंदाजों पर निर्भर रहना पड़ता है।' संक्षेप में, इस थ्योरी को साबित करने के लिए उनके पास कोई सबूत नहीं था, फिर भी उन्हें इस बात पर इतना यकीन था कि उन्होंने इसे आधिकारिक तौर पर राष्ट्रपति के सामने उठाया।

2005 में, सर्बानंद सोनोवाल – जो बाद में असम में भाजपा के मुख्यमंत्री बने – ने सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर की। वह चाहते थे कि ऐसे लोगों की पहचान से जुड़े कानूनों को और सख्त बनाया जाए जिन पर विदेशी होना का शक है। सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले में एस के सिन्हा के अनुमान पर आधारित नोट के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि असम 'बाहरी हमले' का सामना कर रहा है, जिससे संवैधानिक व्यवस्था के टूटने का खतरा पैदा हो गया है।

यह एक तरह से एक चरमपंथी भाषा का गैर जिम्मेदार और गैर-जरूरी इस्तेमाल था, जो मुसलमानों के प्रति मौजूद पूर्वाग्रहों और कट्टरता को दर्शाता है। यह एक ऐसी सोच है जो भारत की सर्वोच्च अदालत में भी मौजूद है। न्यायपालिका ने असम के निवासियों पर ही यह जिम्मेदारी डाल दी कि वे साबित करें कि विदेशी नहीं हैं। यह ऐसी बात है जिसे अदालत अक्सर मंजूरी देती रही है, जैसा कि हमने इस कॉलम में पहले भी देखा है। आम तौर पर, यह राज्य की जिम्मेदारी होती है कि वह गलत काम या आपराधिक गतिविधि को साबित करे और सजा देने के लिए जरूरी सबूत पेश करे। 'दोषी साबित होने तक निर्दोष' माने जाने का यही मतलब है। हालांकि, न्यायपालिका ने असम के लोगों पर ही यह साबित करने की जिम्मेदारी डाल दी कि वे विदेशी नहीं थे (और 1971 के बाद पैदा हुए लोगों के मामले में, कि उनके माता-पिता या दादा-दादी विदेशी नहीं थे)। जब तक वे खुद को निर्दोष साबित नहीं कर पाते, तब तक उन्हें दोषी ही माना जाता था।

> असम के निवासियों पर ही यह साबित करने की जिम्मेदारी डालना कि वे दोषी नहीं हैं, उन्हें तब तक दोषी ही मानता है जब तक कि वे अपनी बेगुनाही साबित न कर दें

ऐसे देश में जहां ज्यादातर लोग गरीब हैं और पूरी तरह पढ़े-लिखे नहीं हैं, जहां कागजी कार्रवाई कमजोर है, और ऐसे राज्य में जहां बाढ़ आना आम बात है और संपत्ति का पूरा नुकसान होना भी अक्सर होता रहता है, वहां इतने अहम मामले में सबूत पेश करने की जिम्मेदारी का उलट जाना क्रूरता थी। राज्य ने एक और काम यह किया कि सुरक्षा के लगभग कोई उपाय नहीं किए।

विदेशियों के लिए बने ट्रिब्यूनल यह तय करते थे कि किसी को आजाद किया जाए या जेल भेजा जाए। इन ट्रिब्यूनल में काम करने वाले लोगों को सिर्फ चार दिन की ट्रेनिंग दी गई थी। ये वकील और रिटायर हो चुके सरकारी अधिकारी थे जिन्हें दो साल के कॉन्ट्रैक्ट पर रखा गया था। लोगों को इन्हीं के सामने अपना पक्ष रखना होता था। भाजपा की असम सरकार ने ट्रिब्यूनल के सदस्यों को यह बता दिया कि वह उनसे क्या करवाना चाहती है; सरकार ने उन सदस्यों के कॉन्ट्रैक्ट आगे नहीं बढ़ाए जो लोगों को विदेशी घोषित करने में कम सफल रहे थे।

यह बात उस हलफनामे से सामने आई जो सरकार ने खुद गुवाहाटी हाईकोर्ट में जमा किया था, जब ट्रिब्यूनल के कुछ सदस्यों ने कोर्ट में यह कहते हुए याचिका दायर की थी कि उन्हें बिना किसी वजह के नौकरी से निकाल दिया गया था।

सरकार ने कहा कि ऐसा नहीं था और दावा किया कि ट्रिब्यूनल के सभी सदस्यों के काम का मूल्यांकन किया गया था। 2017 में, सरकार ने एक नोट सौंपा जिसमें उन लोगों के नाम थे, साथ ही एक कॉलम में 'विदेशियों के तौर पर घोषित लोगों का प्रतिशत', 'सदस्य के बारे में सरकार की आम राय' और 'क्या उन्हें आगे बनाए रखने पर विचार किया जा सकता है या उन्हें हटाया जा सकता है' आदि जानकारियां दी गई थीं।

जिन अधिकारियों ने अपने ट्रिब्यूनल में आने वाले कुल लोगों में से 10 प्रतिशत से कम लोगों को विदेशी घोषित किया था, उनके काम को 'संतोषजनक नहीं' माना गया और उन्हें 'हटा दिया' गया। राज्य सरकार असल में अपने ट्रिब्यूनल अधिकारियों को ज्यादा लोगों को विदेशी घोषित करने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी और जो अधिकारी ऐसा नहीं कर रहे थे, उन्हें सजा दे रही थी। इस तरह के अन्याय पर न तो राष्ट्रीय और न ही वैश्विक स्तर पर ज्यादा ध्यान दिया गया और यह मामला असम की मीडिया तक ही सीमित रहा।

समस्या तब और गंभीर हो गई जब एक असमिया रंजन गोगोई को सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। भाजपा शासित असम ने 40 लाख से अधिक लोगों को छोड़कर पहली सूची तैयार की और फिर उन लोगों की अंतिम सूची बनाई, जिनसे वह संतुष्ट था कि वे उसके द्वारा निर्धारित मानदंडों को पूरा करते थे। यह तथाकथित राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर-एनआरसी था।

इस लिस्ट से 19 लाख लोगों को बाहर रखा गया, जिन्हें अब अपने कागजात के साथ 'फॉरेनर्स ट्रिब्यूनल' (विदेशियों के लिए बने ट्रिब्यूनल) के सामने पेश होना होगा और अपनी नागरिकता साबित करनी होगी। इन 19 लाख लोगों में ज्यादातर हिन्दू थे। यह बात उम्मीद के उलट थी क्योंकि भाजपा ने अपनी ही बात और गवर्नर सिन्हा की उस थ्योरी पर भरोसा किया था कि राज्य अवैध प्रवासियों से भर गया है, जबकि ऐसा होने का कोई सबूत नहीं था।

इसके बाद भाजपा सरकार ने असम एनआरसी को खत्म करने का फैसला किया, जिस पर काफी मेहनत हुई थी और बहुत से संसाधन भी लगे थे।

हम एक बार फिर वैसी ही प्रक्रिया से गुजर रहे हैं, लेकिन इस बार यह पूरे देश में हो रही है। ऐसी खबरें आ रही हैं कि हक वाले फायदे खत्म किए जा रहे हैं, पासपोर्ट देने से मना किया जा रहा है और फॉर्म बहुत उलझाने वाले हैं। लोग मनमानी और उस सरकार की बेरहमी को लेकर परेशान हैं जो अपने कामों को 'मिनिमम गवर्नमेंट' के तौर पर पेश करती है। ■

ADVERTISEMENT RATE CARD

w.e.f. 1 September 2025

NATIONAL HERALD ON SUNDAY | संडे नवजीवन

The AJL Group has two weekly newspapers and three website portals in English, Hindi and Urdu

www.nationalheraldindia.com | www.navjivanindia.com | www.qaumiawaz.com

Commercial Display (w.e.f 1 Sept 2025)

Category of Advertisements (C/BW)	National Herald on Sunday (National Edition)	National Herald on Sunday (Mumbai)	Sunday Navjivan (National Edition)
Full Page (1650 sq.cm)	Rs 10 Lakh	Rs 8 Lakh	Rs 10 Lakh
Half Page (800 sq. cm)	Rs 6 Lakh	Rs 5 Lakh	Rs 6 Lakh
Quarter Page (400 sq. cm)	Rs 4 Lakh	Rs 3 Lakh	Rs 4 Lakh
< Quarter Page (per sq. cm)	Rs 700	Rs 450	Rs 700

PAGE PREMIUM		Display Ads BW/Color	Political Ads BW/Color
	Front page	100% Surcharge	200% Surcharge
	page (3 & back)	25% Surcharge	100% Surcharge
	Specified page	50% Surcharge	50% Surcharge

*Advance payment is needed for all political advertisements.

Classified for festival greetings, anniversary & notices

Full page @ Rs 1,00,000 | Half Page @ 60,000

< 240 sq. cm @ Rs 175 per sq. cm

State Govt Advertisements/ C/BW

@ Rs 525 per sq. cm

The Associated Journals Limited
Herald House, 5A, Bahadur Shah Zafar Marg,
New Delhi 110002
Phone: 011-47636300 - 313
Whatsapp No: 9650400932
Email: advt@nationalheraldindia.com

Online Remittance/Bank Beneficiary Details:
Name: **Associated Journals Limited**
Bank Name: **Canara Bank**
Branch Name: **I P Estate, New Delhi-110002**
C/A No.: **90171010003955;** IFSC Code: **CNRB0019017**
GST No.: **27AAECA1180A1ZB ;** PAN No.: **AAECA1180A**

NOTE: Cheque / DD should be drawn in favor of “Associated Journals Limited” and sent to Herald House, 5-A Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi -110002.

General Terms and Conditions

w.e.f. 1 September 2025

National Herald on Sunday (Delhi & Mumbai) and Sunday Navjivan

1. All advertisements are published in Edition(s) of the paper and charges are payable strictly in advance of publication by Bank Draft or Bank Transfer (RTGS) and /or cheques only except in the case of advertising agencies accredited to INS.

2. Advertisements are accepted for publication on top of advertisements positions on an additional charge of 25%. No advertisement is however published on top of news-matter.Top of column position cannot be guaranteed even on payment of additional charge of 25%.

3. Extra charges for top of column position are calculated on the total amount payable inclusive of amount payable for specified pages.

4. Every reasonable effort is made to publish an advertisement on the date(s) specified by an advertiser. The Management however reserves the right to vary the date or the scheduled date(s) of publication, with or without notice to the advertiser, owing to the exigencies of availability of spaces.

5. The management reserves the right to refuse, suspend or stop, in its discretion, publication of any advertisement without assigning any reasons.

6. While every endeavour will be made by the Management to avoid publication of competitive advertisements in close proximity to one another, no guarantee can be given in this respect nor will the claims be entertained for free insertions in the event of announcements of rival product appearing on the same page.

7. The placing of an order by an Advertiser/Advertising Agency constitutes a warranty by the Advertiser/Advertising Agency to the Associate Joumals Limited Management that the Advertiser/ Advertising Agency has secured the necessary authority and permission in respect of the use in the advertisement or advertisements of pictorial representation of (or purporting to be of) living persons and all references to words attributing to living persons.

8. The advertisements will be charged at the rate applicable on the day of publication of the advertisement irrespective of the date of booking, date of release order and whether the advertisement is part of any package/scheme.

9. Standing instructions are accepted over Whatsapp or email. However verbal instructions must be clear and specific. Quoting reference of the previous release order and/or new scheduled dates of insertions in respect of which the instructions are given. These instructions should be given afresh either through Whatsapp/email and/or Landline phone.

10 Booking of space for premium positions in all The Associated Journals Limited publications will be confirmed only upon receipt of original releaseorder. Fax/Scanned copies, Emails will be entertained for the same.

11. “Reader” advertisements are accepted but will be distinguished from 'news matter' by a rule around the advertisement matter and expression 'advt' will be added at bottom.

12. Solus/Semi Solus positions cannot be guaranteed on the front page.

13. Cancellation charges @20% of the total cost of the front/Full page advertisement shall be levied if a cancellation of booking is made two days before the scheduled date of publication. Cancellation charges @35% of the total cost of the full front-page advertisement shall be levied if the cancellation of a booking of front/full page advertisement is made one day before the scheduled date of the publication.

14. In the event of printing mistake, omission or non-publication of advertisement, the advertising agencies shall have to furnish the instructionson behalf of their client for republication. In the event of a dispute the liability of Management shall be restricted to the amount received against sale of spaces for the advertisement received. All disputes /claims regarding advertisement /complaints must be made within a period of one month of publication date after which no claim will be entertained.

15. The Management shall not be responsible for any loss or damage caused by an error or inaccuracy in the printing of/or omission in inserting advertisements.

16. In case of dispute, the agency shall not be entitled to invoke any condition suggestive of existence of an arbitration agreement unless specifically agreed to by the Management.

17. No deduction is allowed from bills raised against publication of advertisement(s) on account of any defective insertion(s). Any claims in these respects, if admitted, will be met by publishing a corrigendum/ free insertion or the like, depending upon the merits of the claim vis-a-vis the error in publishing the advertisement(s) or other materials. Claims for refund or for compensation, if admitted, shall be restricted to the charges for advertisement received by Management. The decision of the management shall be final in this regard.

18. The advertisements released by Government/Semi Government/ Undertakings/Autonomous body are published in classified display column only at commercial rates irrespective of the number of words.

19. The advertising agencies releasing an advertisement on behalf of its client shall be deemed to have undertaken to keep the management indemnified in respect of costs, damages or other charges incurred by the Management as a result of any legal action or threatened legal action arising from and in relation to publication of any advertisement published in accordance with the release order and the copy of instructions supplied by the agency.

20. The agency shall bring to the notice of its clients these General Terms and it shall not be open to any of its clients to plead/claim or aver ignorance of these General Terms which apply to every transaction of sale of space in particular issue(s) of any of publications of The Associated Joumals Limited.

21. No agency commission is payable on the on the classified advertisements chargeable at DAVP rates.

22. Fraction of centimetre in excess of the scheduled size shall be charged as full centimetre if the advertisement exceeds the scheduled size. If the material supplied is shorter than the scheduled size, the advertisement will be charged for the size scheduled and not for theactual space occupied or consumed by the advertisement on the basis of the short size material so supplied.

23. The Management shall not be bound by notice of stoporders, cancellations, preponements/postponements or alterations/deletions/ additions in the material(s) of advertisement(s) booked for publication in special or specified position if received less than one week prior to dates of insertion. For ordinary advertisement, the stoppage or not of cancellation must reach at least four days before the scheduled date of publication of advertisement.

24. The Management reserves the rights to revise the rates and terms and conditions without any notice.

25. Every Advertiser/Advertising Agency acknowledges having read and accepted these Terms and Conditions.

26. Courts only in New Delhi, shall have the jurisdiction to entertain and decide all disputes and claims, arising out of publication of any advertisement in the Associate Journals limited publications.

27. The Management shall be at liberty to refuse to carry advertisements/ adjust amounts paid for subsequent ads against pre-existing liabilities, even without carrying such subsequent advertisement.

28. Advertising party hereby agrees to indemnify, defend and hold harmless AJL, it's directors, officers, shareholders and agents against any and all third party claims arising out of or in connection with the content or placement of the advertisement, and to the fullest extent.

29. In no event shall AJL be liable hereunder for any indirect, incidental, special, consequential, punitive or exemplary damages or losses in connection with these terms even if advised in advance of the possibility of arising of such liability, damages or losses.

30. In no event shall AJL's aggregate liability exceed Rs. 10,000 to any advertising party.

संडे नवजीवन
रविवार, 19 जुलाई, 2026 Iwww.navjivanindia.com

क्या उपवास ने नैतिक महत्व और राजनीतिक असर खो दिया है?

बदलते भारत में महात्मा गांधी के अहिंसक प्रतिरोध की परंपरा की प्रासंगिकता बरकरार

शैलेन्द्र चौहान

भारतीय लोकतंत्र का इतिहास केवल चुनावों का नहीं है। यह असहमति, प्रतिरोध और नैतिक हस्तक्षेप का भी इतिहास है। इस इतिहास में यदि किसी एक राजनीतिक औजार ने सबसे अधिक नैतिक प्रतिष्ठा अर्जित की, तो वह था—अनशन। महात्मा गांधी ने इसे केवल भोजन-त्याग का कर्म नहीं बनाया, बल्कि आत्मबल, नैतिक दबाव और जनमत के निर्माण का माध्यम बनाया। गांधी का विश्वास था कि सत्ता चाहे कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, यदि उसके सामने सत्य और नैतिकता का अडिग आग्रह खड़ा हो जाए तो अंततः उसे झुकना पड़ता है।

लेकिन इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में यह प्रश्न पहले से अधिक तीखे रूप में सामने है कि क्या अनशन अब अपनी राजनीतिक प्रभावशीलता खो चुका है? लद्दाख के पर्यावरण और संवैधानिक अधिकारों के प्रश्न पर सोनम वांगचुक के लंबे अनशन, किसानों के आंदोलन, विभिन्न सामाजिक संगठनों के धरनों और अनेक स्थानीय आंदोलनों ने यह सवाल फिर से खड़ा किया है कि क्या आज की सत्ता पहले की तुलना में नैतिक दबाव के प्रति कम संवेदनशील हो गई है? या लोकतंत्र की प्रकृति ही बदल गई है?

इस प्रश्न का उत्तर केवल किसी एक सरकार के व्यवहार में नहीं, बल्कि पूरे राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य में निहित है।

गांधी के समय अनशन इसलिए प्रभावी था क्योंकि वह व्यापक जनसंपर्क, संवाद और नैतिक विश्वसनीयता से जुड़ा हुआ था। गांधी का हर उपवास केवल व्यक्तिगत तपस्या नहीं था; वह समाज के विवेक को संबोधित करता था। उनके अनशन की खबर गांव-गांव तक पहुंचती थी, अखबारों में प्रमुखता से प्रकाशित होती थी और ब्रिटिश सरकार अंतरराष्ट्रीय जनमत के दबाव से भी प्रभावित होती थी। अंग्रेज औपनिवेशिक शासक थे, लेकिन वे विश्व-राजनीति, संसद, प्रेस और लोकतांत्रिक आलोचना से पूरी तरह मुक्त नहीं थे। उन्हें अपनी वैधता का कुछ न कुछ प्रदर्शन करना पड़ता था।

आज की परिस्थितियां भिन्न हैं। लोकतांत्रिक सरकारें चुनावी बहुमत से वैधता प्राप्त करती हैं। बहुमत का यह नैतिक आत्मविश्वास कई बार इस धारणा को जन्म देता है कि चुनाव जीत लेना ही जनता की अंतिम स्वीकृति है। परिणामस्वरूप सड़क पर उठने वाली आवाजों को कभी-कभी सीमित समूहों, विरोधी राजनीति या अस्थायी असंतोष के रूप में देखा जाने लगता है। ऐसे में अनशन का नैतिक दबाव पहले जैसा असर नहीं छोड़ पाता।

यह कहना भी पूरी तरह उचित नहीं होगा कि केवल वर्तमान सरकार के समय ऐसा हुआ है। पिछले तीन दशकों में लगभग सभी सरकारों ने बड़े आंदोलनों के प्रति पहले प्रतीक्षा, फिर प्रशासनिक नियंत्रण और अंततः सीमित संवाद की नीति अपनाई है। यह प्रवृत्ति वैश्विक लोकतंत्रों में भी दिखाई देती है। राज्य का चरित्र अधिक तकनीकी, अधिक सुरक्षा-केन्द्रित और अधिक केन्द्रीकृत हुआ है। परिणामस्वरूप नैतिक अपील की तुलना में प्रशासनिक प्रबंधन को अधिक महत्व मिलने लगा है।

फिर भी यह भी सच है कि समकालीन भारत में अनेक सामाजिक कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों ने यह चिंता व्यक्त की है कि विरोध प्रदर्शनों के प्रति राज्य का रवैया पहले की तुलना में अधिक कठोर दिखाई देता है। धरना-प्रदर्शनों पर प्रतिबंध, लंबे समय तक अनुमति न मिलना, आंदोलनकारियों को हिरासत में लेना, इंटरनेट बंद करना या सुरक्षा के तर्कों के आधार पर आंदोलनों को सीमित करना—इन सबने यह बहस तेज की है कि लोकतंत्र में असहमति के लिए उपलब्ध सार्वजनिक स्थान सिकुड़ रहे हैं। दूसरी ओर सरकार का तर्क रहता है कि कानून-व्यवस्था बनाए रखना, सार्वजनिक जीवन को बाधित होने से बचाना और राष्ट्रीय सुरक्षा सुनिश्चित करना भी उसकी जिम्मेदारी है। इसलिए इस बहस को एकतरफा निष्कर्ष में बदलना उचित नहीं होगा।

> चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन और सूचना के अधिकार के लिए संघर्ष शुरू में बेअसर लगे थे। समय के साथ उन्होंने जन-नीति और सामूहिक चेतना को गहराई से प्रभावित किया

सोनम वांगचुक का आंदोलन इसी संदर्भ में महत्वपूर्ण बन जाता है। उनका आग्रह केवल किसी व्यक्तिगत मांग का नहीं, बल्कि लद्दाख के पर्यावरण, स्थानीय भागीदारी और संवैधानिक सुरक्षा से जुड़ा रहा है। उनके अनशन ने अनेक नागरिकों का ध्यान आकर्षित किया, किंतु यह भी स्पष्ट हुआ कि केवल नैतिक अपील भर से नीति-निर्णय तुरंत नहीं बदलते। इससे यह प्रश्न और गहरा हुआ कि क्या आज सत्ता नैतिक आग्रहों की अपेक्षा राजनीतिक गणित और प्रशासनिक प्राथमिकताओं से अधिक संचालित होती है?

यहां एक और परिवर्तन ध्यान देने योग्य है। गांधी के समय सूचना के स्रोत सीमित थे। कोई बड़ा अनशन राष्ट्रीय समाचार बन जाता था। आज सूचना की बाढ़ है। चौबीस घंटे के समाचार चक्र और सोशल मीडिया के युग में हर दिन कोई नया विवाद, नया अभियान और नई बहस सामने आ जाती है। परिणामस्वरूप किसी भी आंदोलन का सार्वजनिक ध्यान लंबे समय तक बनाए रखना कठिन हो गया है। दृश्यता का संकट भी अनशन की प्रभावशीलता को प्रभावित करता है।

दूसरा बड़ा परिवर्तन नागरिक समाज की संरचना में आया है। गांधी के दौर में कांग्रेस स्वयं एक जनांदोलन थी। आज राजनीतिक दल, सामाजिक संगठन और नागरिक समूह अलग-अलग इकाइयां हैं। उनके बीच वैसा व्यापक समन्वय कम दिखाई देता है। इसलिए किसी एक अनशन को पूरे समाज की नैतिक आवाज का रूप मिलना कठिन हो जाता है।

यह भी विचारणीय है कि अनशन का अत्यधिक प्रयोग स्वयं उसकी नैतिक शक्ति को कमजोर करता है। यदि हर छोटा-बड़ा विवाद अनशन तक पहुंच जाए तो समाज उसके प्रति संवेदनहीन होने लगता है। गांधी ने भी अनशन को अंतिम नैतिक उपाय माना था, सामान्य राजनीतिक हथियार नहीं। इसलिए उसकी गरिमा संयमित प्रयोग में थी।

क्या इसका अर्थ यह है कि गांधी की अहिंसा अप्रासंगिक हो गई?

उत्तर नकारात्मक है। अहिंसा का अर्थ केवल अनशन नहीं है। अहिंसा का अर्थ है — संवाद, सत्य, जनसंगठन, रचनात्मक कार्यक्रम, नैतिक साहस और लोकतांत्रिक दबाव का संयोजन। यदि इन तत्वों से अनशन अलग हो जाए तो वह केवल प्रतीकात्मक उपवास बनकर रह जाता है। यदि ये तत्व उसके साथ हों तो आज भी वह समाज के विवेक को झकझोर सकता है, भले ही उसका तात्कालिक राजनीतिक परिणाम न दिखाई दे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि कई आंदोलन तत्काल सफल नहीं हुए, किंतु उन्होंने आने वाली पीढ़ियों की राजनीति बदल दी। चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, सूचना के अधिकार का संघर्ष और अनेक पर्यावरणीय अभियान पहले उपेक्षित लगे, पर बाद में उन्होंने नीतियों और जनचेतना पर गहरा प्रभाव डाला। इसलिए किसी अनशन की सफलता केवल इस आधार पर नहीं आँकी जा सकती कि सरकार ने उसी समय उसकी मांगें स्वीकार कीं या नहीं।

लोकतंत्र की वास्तविक परीक्षा सत्ता और विपक्ष दोनों की जिम्मेदारियों में निहित होती है। सत्ता को यह स्वीकार करना चाहिए कि असहमति लोकतंत्र की शत्रु नहीं, उसकी अनिवार्य शर्त है। वहीं आंदोलनों को भी यह समझना होगा कि नैतिक विश्वसनीयता, तथ्यपरकता और व्यापक जनसंपर्क के बिना केवल प्रतीकात्मक प्रतिरोध पर्याप्त नहीं है।

आज आवश्यकता गांधी की विधियों की नकल करने की नहीं, बल्कि उनके मूल दर्शन को नए संदर्भों में समझने की है। यदि गांधी आज होते तो संभवतः वे केवल उपवास नहीं करते; वे डिजिटल माध्यमों, जनसंवाद, पर्यावरण, स्थानीय स्वशासन और सामाजिक संगठन को जोड़कर एक व्यापक नैतिक आंदोलन खड़ा करते। उनका लक्ष्य किसी सरकार की पराजय नहीं, बल्कि समाज के विवेक का जागरण होता।

इसलिए यह कहना कि अनशन पूरी तरह बेमानी हो गया है, इतिहास और राजनीति—दोनों के साथ न्याय नहीं होगा। अधिक सटीक निष्कर्ष यह है कि अनशन की प्रभावशीलता का सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ बदल गया है। आज वह अपने आप में पर्याप्त नहीं है; उसे व्यापक लोकतांत्रिक संगठन, निरंतर जनसंवाद, तथ्याधारित विमर्श और सार्वजनिक सहभागिता के साथ जोड़ना आवश्यक है।

भारतीय लोकतंत्र के सामने सबसे बड़ी चुनौती यही है कि क्या वह असहमति को केवल प्रशासनिक समस्या मानता रहेगा, या उसे लोकतंत्र की जीवनदायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार करेगा। इसी प्रश्न का उत्तर भविष्य तय करेगा। यदि लोकतंत्र में नैतिक आवाज़ों के लिए स्थान लगातार संकुचित होता है, तो केवल आंदोलनों की नहीं, स्वयं लोकतंत्र की संवेदनशीलता कमजोर होगी। और यदि राज्य तथा समाज दोनों संवाद की संस्कृति को पुनर्जीवित करते हैं, तो गांधी की अहिंसा आज भी प्रासंगिक रहेगी—एक ऐतिहासिक स्मृति के रूप में नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक भविष्य की आवश्यकता के रूप में। ■

फोटो: विपिन

नई दिल्ली के जंतर-मंतर पर अनशन के दौरान एक्टिविस्ट सोनम वांगचुक

सत्याग्रह से आता है सच्चा प्रतिरोध

असहज करते सवालों का सामना करना ही सत्याग्रह है। तभी लड़ी जा सकती है चहुंमुखी लड़ाई

मीनाक्षी नटराजन

विगत दिनों राज्यसभा का नामांकन खारिज होने के बाद आत्मचिंतन का अवसर मिला। कोई भी प्रतिरोध केवल बाह्य तो नहीं हो सकता। वह बहुत से आंतरिक सवाल पूछता है। प्रतिरोध सत्यान्वेषी नहीं हुआ, तो वह या तो मात्र सनसनीखेज मंचन बनकर रह जाता है या फिर प्रतिक्रिया। बिना सत्यान्वेषण की गरज से उपजी प्रतिक्रिया कोरी हिंसा है। यह हिंसा हक की आवाज नहीं उठा सकती।

भले ही चुनाव की प्रक्रिया और चुनाव आयोग की पारदर्शिता पर अब कोई संदेह नहीं रहा, वह यकीनी तौर पर सत्ता के कदम चूमती दिखाई पड़ती है। सत्तासीन की गुलामी करने के लिए मजबूर हैं।

पर इन सबसे इतर कुछ सवाल मेरे भीतर शुरू हुए। उन सवालों को खारिज नहीं कर सकते। उनका संज्ञान लिए बिना किसी प्रतिरोध का आगाज़ नहीं हो सकता। राज्यसभा का पर्चा खारिज होने से सब सकते में आए। लोकतंत्र पर हावी हो रही तानाशाही और एकाधिपत्य का पर्दाफाश हुआ। लेकिन यह पहली बार तो नहीं हुआ।

आखिर दबे पांव पिछले दो दशक से कब्जा वर्चस्व और एकाधिपत्य लोकतंत्र के हर स्थान पर पैर पसार ही रहा था। तब किसी ने ध्यान नहीं दिया। उसे राजनीतिक स्मार्टनेस के रूप में मनाया गया। उस प्रक्रिया में छूटे लोग 'बौड़म' करार किए गए। मध्यप्रदेश की ही बात करें तो कृषि उपज मंडी के चुनाव कब से बंद हो गए। हमने कुछ ज्यादा नहीं कहा। इस हम में मैं भी शामिल हूं, जबकि मंडी कोई कमतर स्थान नहीं।

राज्य सभा के मुकाबले कोई गौण व्यवस्था नहीं। वही वह स्थान है जहां किसान की उपज का फैसला होता है। देश की राजधानी के वाणिज्य मंत्रालय में तो उसकी आवाज पहुंचती ही नहीं। कम-से-कम मंडी तक तो पहुंचा करती थी। आज भी सामाजिक सत्ता व्यवस्था में व्यापारी, आढ़तियों की तुलना में किसान की आवाज बहुत क्षीण है। मंडी में प्रतिनिधित्व उसको बुलन्दी देती थी।

इधर चुनाव बंद हुए, उधर समर्थन मूल्य की खरीद में और गिरावट आई। किसान को हक के स्थान पर कुछ राहत राशि का इनाम देकर खामोश किया जाने लगा। किसान अनुकम्पा राशि, कृषि क्रेडिट योजना, कर्ज माफी, भावन्तर मेहरबानी के कई नाम। इनमें हक गुम हो गया। किसी ने प्रतिनिधित्व के हक को 'मिस' नहीं किया। मेहरबानी की सुनहरी कैद के बाबत लोकतंत्र दब गया। किसान पर गोली भी चली तब भी उपज मंडी के चुनाव मांग की कथानक में शामिल नहीं हो सका। आज जब अमेरिका से डील होगी, तब किसान की कहीं आवाज नहीं बचेगी।

यही स्थिति सहकारी समितियों की हुई। इसकी चुनाव प्रक्रिया में कोई सहकारिता शेष ही नहीं रही। मतदाता, प्रत्याशी सबकी सूची सरकार तय करती। जाहिर है कि सत्तारूढ़ दल के हिसाब से तय करती। ख्याल रहे कि यह चुनाव कितने जरूरी हैं। समाज के सबसे निचले पायदान पर बसे लोगों का राशन, बीज, खाद की उपलब्धता इन समितियों से तय होती हैं।

ऐसे में जब ताकतवर वर्ग इस पर अपना कब्जा जमाते हैं, तो शोषण की नई इबारत गढ़ते हैं। कई बार उस सबसे कमजोर को ही खाद-बीज नहीं मिलता। गांव के प्रभुत्व सम्पन्न के बंटवारे बाद कुछ बचे तो वे पाते हैं। तिस पर अब वो कहां आवाज उठाएं? कोई व्यवस्था नहीं जहां वे निर्धारक बन सकें। सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कालाबाजारी, शोषण-दोहन लूट को चुनौती दे सके।

> जैसा बाबा साहब ने कहा कि आर्थिक-सामाजिक विषमता राजनीतिक समतलता को लील जाएगी। चुनाव में बढ़ते खर्च, गैरपारदर्शिता उसी की परिणति है। ध्यान रहे कि ताकतवर का नुमाइंदा होने से न्याय, सशक्तिकरण नहीं होता

इन समितियों में समाज के सबसे ज्यादा दमित वर्ग के लिए आरक्षित स्थान होने पर भी असल आवाज नही मिली। केवल ताकतवर के मोहरे काबिज होते गए। हमारी राजनीतिक चेतना को इससे ठेस नहीं पहुंची। हमें नहीं लगा कि यह फर्जी प्रकिया लोकतंत्र को खोखला कर रही है, बल्कि हमने इसे सहकारिता का दोष मान लिया। आखिर मनुष्य का तो स्वभाव ही सहकारी नहीं। यह पूंजीवाद ने जंचा दिया। इस बीच चुनी हुई नहर समितिया भंग हो गईं। वहां भूमि स्वामी हावी हो गए। हम को अच्छा नहीं लगा, लेकिन खास विरोध भी नही किया।

फिर पंचायत चुनाव की यही दशा हो गई। ग्राम सभा के हक जाते रहे। हमको लगा कि अनुकूल सरकार बनने पर कुछ करेंगे। चुनाव के प्रत्याशी की योग्यता तय होने लगी, हमें यह लोकतंत्र विरोध नहीं लगा। ज्यादातर राज्य मनमुताबिक चुनाव कराते हैं या नहीं कराते। तब बहुत फर्क नहीं पड़ा।

आज राज्यसभा का चुनाव सहकारी समिति के चुनाव जैसा हो गया। तो क्या आश्चर्य! एसआईआर ने पूरे देश को सहकारी चुनाव-सा बना दिया तो कोई अचरज नहीं होना चाहिए। राज्यसभा तो विधायकों की प्रतिनिधि सभा है। उनसे कई गुना ज्यादा कमजोर, दमित वर्ग की चुनी और गैर चुनी सभाएं मौजूद हैं। सहकारी समिति, ग्राम सभा, पंचायत, मंडी, नहर समिति में उनकी आवाज का होना, देश की आत्मा को आवाज देना है। वह दबाई गई। अनुचित जरूर महसूस हुआ, पर क्या वह अन्याय-सा लगा? यह सवाल मन में है।

एक पहलू और है। जो तीसरे प्रत्याशी निर्वाचित घोषित हो गए, वह जिस समुदाय से आते हैं, हजारों साल तक व्यवस्था के अधिपतियों ने मात्र जन्म के आधार पर खारिज किया है। मंदिर, विद्यालय, साथ बैठकर भोजन करने की पंगत, श्मशान तक खारिज ही खारिज हुए है। उस मान से मेरा जन्म तो खारिज करने वाले समुदाय में हुआ। हालांकि स्त्री जनेऊ धारण नहीं करती, न ही द्विज होती है। पर तब भी मेरे पास जितने विशेषाधिकार के जनेऊ हैं, वह समाज की विषमता का ही प्रतीक हैं। तो प्रसंगवश मेरे सामुदायिक व्यक्तिगत कर्म कटे।

संविधान इसी विषमता को नेस्तनाबूद करने का माध्यम है, मानचित्र है। वही मुझे और निर्विरोध निर्वाचित को यह हक देता है कि बराबरी से लड़ सके। मैदान समतल हो। पर जैसा बाबा साहब ने कहा कि आर्थिक-सामाजिक विषमता राजनीतिक समतलता को लील जाएगी। चुनाव में बढ़ते खर्च, गैरपारदर्शिता उसी की परिणति है। यह ध्यान रहे कि ताकतवर का नुमाइंदा होने से न्याय, सशक्तिकरण नहीं होता। ताकतवर को चुनौती देने से होता है।

प्रतिरोध का अभ्यास जब करने लगे, तो वह अंदरूनी असहज करते सवाल पूछती है। उनका सामना करना ही सत्याग्रह है। तब चहुंमुखी लड़ाई लड़ी जा सकती है। ■

फोटो: गेटी इमेजेज

2017 में, मंदसौर के पास ग्रामीणों ने अभिषेक पाटीदार के शव के साथ चक्का जाम किया था। अभिषेक की मौत किसानों के आंदोलन के दौरान पुलिस फायरिंग में हुई थी। तब से हालात में ज्यादा बदलाव नहीं आया है

हर हाल में काम करता है प्रतिरोध

महात्मा गांधी के अनुभव बताते हैं कि प्रतिरोध कई बार निष्क्रिय होते हैं, फिर भी सफल होते हैं

कृष्ण प्रताप सिंह

उन्नीसवीं शताब्दी के अमेरिकी पादरी, धर्मशास्त्री और लेखक जेम्स फ्रीमैन क्लार्क का बहुत प्रसिद्ध कथन है : 'ए पालिटीशियन थिंक्स आफ द नेक्स्ट इलेक्शन, एक स्टेट्समैन थिंक्स आफ द नेक्स्ट जनरेशन' (अर्थात राजनेता अगले चुनाव के बारे में सोचता है और नीतिज्ञ अगली पीढ़ी के बारे में)। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने भी कभी इसी से मिलती-जुलती बात कही थी: 'एक राजनेता और एक नीतिज्ञ के बीच का मुख्य अंतर यह है कि राजनेता अपने दल के बारे में सोचता है, जबकि नीतिज्ञ देश के बारे में सोचता है। कहने का आशय यह कि राजनेता का ध्यान महज पार्टी और सत्ता पर रहता है, जबकि नीतिज्ञ पूरे देश के भविष्य को प्राथमिकता देता है।

ये दोनों कथन तब बहुत याद आए, जब लोकसभा में विपक्ष के नेता राहुल गांधी आठ जून की इंडिया गठबंधन की बैठक में अपने संबोधन में घटक दलों को यह कहकर आगाह करते देखे गए कि चूंकि केन्द्र में सत्तारूढ़ भाजपा और उसके पितृ संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने चुनाव आयोग, न्यायपालिका और खुफिया एजेंसियों जैसी देश की सभी संवैधानिक और लोकतांत्रिक संस्थाओं पर कब्जा कर लिया है, इसलिए अब पुराने तरीकों से चुनाव नहीं जीते जा सकते, क्योंकि इन हालात में पुरानी राजनीतिक रणनीतियां काम नहीं करने वाली। इसलिए लोकतांत्रिक मूल्यों, संविधान और उसके समानता के विचार की रक्षा के लिए प्रतिरोध की राजनीति करने के अलावा कोई रास्ता नहीं है।

इस संबोधन को 'रेसिस्टेंस वर्क्स' (प्रतिरोध काम करता है) शीर्षक से जारी किए जाने के बाद उसकी तरह-तरह से मीमांसाएं और व्याख्याएं की गईं और कई तरह के विचार सामने आए। उनकी ओर से भी, जिन्हें अभी भी राहुल को नीतिज्ञ मानने में हिच है। कई हल्कों में उसे विपक्षी एकता के लिए 'वेक-अप कॉल' तक बताया गया। साथ ही इस बात से सहमति जताई गई कि देश के वर्तमान हालात में आजादी के संघर्ष की तर्ज पर जनता के बीच बड़ा प्रतिरोध आंदोलन खड़ा करने की जरूरत है। खासकर संविधान के इस विचार की रक्षा के लिए कि भारत के सभी नागरिक समान हैं।

ऐसा इसलिए हुआ कि राहुल ने उक्त संबोधन में ही कह दिया था कि अपने कथनों को लेकर वह किसी भी आलोचना या असहमति, यहां तक कि किसी भी कड़वाहट, को सहर्ष स्वीकार करेंगे। उन्हीं के शब्दों में कहें तो 'जैसे भगवान शिव ने विषपान किया था, वैसे ही मैं गठबंधन को मजबूत बनाए रखने के लिए हर कड़वाहट और अपमान को हंसते हुए पीने के लिए तैयार हूं।'

बहरहाल, देश को प्रतिरोध के आंदोलन की कितनी आवश्यकता है, इसे यह देखकर भी समझा जा सकता है कि 2024 के लोकसभा चुनाव में भाजपा की ओर से संविधान को बदलकर उसके सारे उदात्त विचारों को नष्ट कर डालने का जो खतरा दरपेश था, वह इसलिए टल गया था कि जनादेश की चोरी के अनेक प्रयत्नों के बावजूद मतदाताओं ने नरेन्द्र मोदी और उनके संघ परिवार के मंसूबे पर पानी फेरकर उन्हें साधारण बहुमत से भी कम 240 सीटों पर रोक दिया था।

समझा जाता था कि इससे कुछ सबक लेंगे और अपना रास्ता बदलेंगे, लेकिन अब वे अपनी उस पराजय का गम इस रूप में गलत करने लगे हैं कि जैसे भी बने, विपक्षी पार्टियों और सांसदों को डरा-धमका कर या खरीदकर इतनी संख्या में अपनी ओर कर लें कि दो तिहाई बहुमत यानी संविधान को दरकिनार करने या बदलने की कूबत पा जाएं।

साफ है कि उनके राज में चोरी, लूट या डकैती, जो भी कहिए, सिर्फ अयोध्या में या राममंदिर के चढ़ावे की रकम और बहुमूल्य धातुओं की ही नहीं हो रही, 2024 के उस जनादेश की भी हो रही है- राजधानी दिल्ली में विपक्षी सांसदों की भी, गोदी मीडिया द्वारा जिसे चाणक्य नीति कहकर ग्लैमराइज किया जा रहा है।

अयोध्या में जो कुछ हुआ या हो रहा है, उसको लेकर तो संघ परिवार को थोड़ा बहुत अपराधबोध, जगहंसाई या अपने मतदाताओं के खफा हो जाने के अंदेशे सता भी रहे हैं, सांसदों की तोड़-फोड़ को लेकर तो बेहयाई की हद ही हो गई है।

कहने की जरूरत नहीं कि उनकी यह विजय हुई तो उसका पहला शिकार संविधान के हाथों सुरक्षित देश की बहुलताएं और विविधताएं ही होंगी। पहला मौका हाथ आते ही उनको विडंबनाओं और विषमताओं में बदल दिया जाएगा। ऐसे में बड़ा सवाल यह नहीं है कि राहुल जिस प्रतिरोध आंदोलन की बात कर रहे हैं, उसे जमीन पर उतारा जाए या नहीं। चूंकि उसका कोई विकल्प उपलब्ध ही नहीं है, इसलिए बड़ा सवाल यह है कि उसे जमीन पर कैसे उतारा जाए।

समझने की बात यह है कि देश की बहुलता, विशालता और उनसे जुड़ी जमीनी हकीकतों के मद्देनजर प्रतिरोध की जरूरत को किसी फार्मूले के तहत सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता और न ही ऐसा करके उसके मंजिल पाने को लेकर आश्वस्त हुआ था सकता है।

इसलिए कि फिलहाल, एक ऐसी सत्ता का प्रतिरोध किया जाना है, जिसके पास न छिपकर वार करने के लिए खोलों की कोई कमी है, न रूप और वेश बदलने की 'विशेषज्ञता' की। वह पुरातन के पुनरुत्थान की बात करते-करते अधुनातन के सब्जबाग दिखाने पर उतरकर देखने वालों की आंखों को चौंधिया सकती है, फिर इन दोनों में से किसी के भी प्रति समुचित या तर्कसंगत दृष्टिकोण न अपनाकर नए फरेब गढ़ सकती है।

ऐसे में जरूरी है कि प्रतिरोध के तरीके बेहद सावधानी से चुने जाएं और उनके कई संस्तर बनाए जाएं। इतने कि कभी-कभी वे सत्ताधीशों को परस्परविरोधी दिखें तो भी वे उनमें ही उलझकर रह जाएं।

महात्मा गांधी के अनुभव बताते हैं कि प्रतिरोध हमेशा सक्रिय ही नहीं हुआ करते, कई बार निष्क्रिय भी होते हैं और फिर भी सफल होते हैं। बताते हैं कि एक समय ऐसा भी था, जब महात्मा अनुचित और अन्यायपूर्ण कानूनों के निष्क्रिय प्रतिरोध को ही आजमाया करते थे, जिसके तहत उन कानूनों का पालन करने से सविनय इनकार करके अपने अधिकारों की रक्षा की जाती थी। समय के साथ देशवासी इस हथियार के इस्तेमाल में पारंगत हो गए तो बापू उससे बेहतर हथियार 'सत्याग्रह' पर जोर देने लगे।

स्वतंत्रता संघर्ष के अपने अनेक नायकों के अनुभवों से हम जानते हैं कि अन्यायियों और अत्याचारियों के मुगालते बढ़ते जा रहे हों, तो उनके विरोध मात्र से बात नहीं बनती। वे ताकत में सवाए-ड्यौढ़े हों तो उन पर हाथ उठाने का भी कोई हासिल नहीं होता। बापू के शब्दों में कहें तो वे सात पापों से आपादमस्तक नहाए हुए हों, तो उनके विरुद्ध सत्याग्रह और असहयोग जैसे प्रतिरोध के बेहद शक्तिशाली तरीके ही काम आते हैं।

गौरतलब है कि प्रतिरोध और विरोध दोनों ही किसी नीति, कानून या फैसले को अपने तईं अन्यायपूर्ण और अस्वीकार्य बताने और उनके प्रति असहमति जताने के तरीके हैं, लेकिन इनकी गहराई और काम करने के तरीके में बड़ा अंतर है। विरोध ज्यादातर बोलकर, लिखकर या प्रदर्शन करके किया जाता है और उसका मुख्य उद्देश्य अपनी आवाज उठाना और जनता या सरकार का ध्यान खींचना होता है।

किसी अन्याय के खिलाफ नारे लगाना, पुतला फूंकना, शांतिपूर्ण जुलूस निकालना या सोशल मीडिया पर अभियान चलाना -यह सब आमतौर पर किसी घटना के तुरंत बाद शुरू होता है और मांग पूरी होने या समय के साथ खत्म हो सकता है।

लेकिन प्रतिरोध किसी दमनकारी शक्ति या व्यवस्था को सक्रिय रूप से रोकने, उसका मुकाबला करने या स्वीकार न करने का नाम है। यह केवल असहमति नहीं है, बल्कि उस व्यवस्था के खिलाफ खड़े होकर उसे काम करने से रोकना या उसकी जड़ें हिलाना है। इसका उद्देश्य दमनकारी शक्ति के प्रभाव को खत्म करना या खुद को उसके अधीन होने से बचाना होता है।

यह प्रतिरोध अक्सर लंबे समय तक चलता है और इसमें गहरी वैचारिक प्रतिबद्धता और त्याग की जरूरत होती है। 'विरोध' किसी गलत बात के खिलाफ अपनी आवाज उठाना है, जबकि प्रतिरोध उसके सामने झुकने से पूरी तरह इनकार कर देना और उसका डटकर मुकाबला करना है। प्रतिरोध मूलतः किसी दमनकारी व्यवस्था के खिलाफ असहमति जताने और बदलाव की मांग करने की प्रक्रिया है, जो तब क्रांतिकारी बन जाता है, जब तात्कालिक विरोध तक सीमित न रहकर व्यवस्था में मौलिक और संरचनात्मक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से जुड़ जाता है।

क्रांतियों में हम इसी प्रतिरोध का चरम और संगठित रूप देखते हैं जो स्थापित सत्ता को उखाड़ फेंकने और सामाजिक-आर्थिक संरचना को पूरी तरह बदल देने का लक्ष्य रखता है। प्रतिरोध व्यापक जन-समर्थन प्राप्त कर लेता है, तो एक बड़ी सामाजिक-राजनीतिक क्रांति का रूप लेता ही लेता है। यानी हर हाल में 'रेसिस्टेंस वर्क्स।

इसके बावजूद जो लोग प्रतिरोध आंदोलन को लेकर जानबूझकर अन्यमनस्क बने रहने या वेट एंड वाच की स्थिति में रहकर हवा का रुख पहचानने और तदनुसार दृष्टिकोण अपनाने के फेर में हैं, उनको स्मृति शेष सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की यह कविता जरूर पढ़नी चाहिए : जब सब बोलते थे/वह चुप रहता था।/जब सब चलते थे/वह पीछे हो जाता था/जब सब खाने पर टूटते थे/वह अलग बैठा टूंगता रहता था/जब सब निढाल हो सो जाते थे/वह शून्य में टकटकी लगाए रहता था/लेकिन जब गोली चली/तब सबसे पहले/वही मारा गया। ■

फोटो: गेटी इमेजेज

इंडिया गठबंधन की बैठक जिसमें राहुल गांधी ने प्रतिरोध की वकालत की थी

प्रतिरोध मूलतः किसी दमनकारी व्यवस्था के खिलाफ असहमति जताने और बदलाव की मांग करने की प्रक्रिया है, जो तब क्रांतिकारी बन जाता है, जब तात्कालिक विरोध तक सीमित न रहकर व्यवस्था में बदलाव के उद्देश्य से जुड़ जाता है

नामवर सिंह शत वार्षिकी

वैचारिक विकास, अंतर्विरोधों का जटिल आख्यान

नामवर सिंह ने आलोचना को अकादमिक अनुशासन से निकालकर सार्वजनिक बौद्धिक विमर्श का विषय बनाया

शैलेन्द्र चौहान

समकालीन हिन्दी साहित्य में यदि किसी आलोचक ने आलोचना को अकादमिक अनुशासन से निकालकर सार्वजनिक बौद्धिक विमर्श का विषय बनाया, तो वह नामवर सिंह हैं। वह केवल हिन्दी के सर्वाधिक चर्चित आलोचक ही नहीं थे, बल्कि ऐसे साहित्यिक व्यक्तित्व थे जिनकी उपस्थिति से हिन्दी जगत में बहसें जन्म लेती थीं। उनकी विद्वत्ता, भाषिक चातुर्य, वाचिक ऊर्जा और वैचारिक तत्परता ने उन्हें विशिष्ट प्रतिष्ठा प्रदान की। दूसरी ओर, उनकी अनेक स्थापनाएं, बदलते वैचारिक आग्रह, साहित्यिक सत्ता के साथ उनके संबंध तथा समय-समय पर अपनाए गए रुख उन्हें विवादों के केन्द्र में भी रखते रहे। इसलिए नामवर सिंह का मूल्यांकन श्रद्धा या अस्वीकृति के किसी एक छोर पर खड़े होकर नहीं किया जा सकता। उन्हें उनकी आलोचना-दृष्टि, उसके विकास और उसके अंतर्विरोधों के भीतर समझना होगा।

नामवर का आलोचनात्मक जीवन शोध से आरंभ होता है। उनकी पहली महत्वपूर्ण कृति 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान' केवल भाषा वैज्ञानिक या ऐतिहासिक अध्ययन नहीं है; उसमें उनके भावी आलोचक के बीज स्पष्ट दिखाई देते हैं। अपभ्रंश साहित्य का विवेचन करते हुए वह केवल भाषिक विकास की कहानी नहीं कहते, बल्कि रचनाओं के भीतर निहित जीवन-दृष्टि, सामाजिक यथार्थ और सौंदर्यबोध की भी खोज करते हैं। सिद्ध साहित्य के संबंध में उनका यह निष्कर्ष कि उसमें जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण है, उनके आरंभिक आलोचनात्मक विवेक का प्रमाण है। हेमचंद्र के उद्धृत दोहों की उनकी व्याख्या केवल पाठालोचन नहीं बल्कि इतिहास, समाज और संवेदना का संयुक्त पाठ है।

'पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य' पर उनका कार्य उन्हें शोधकर्ता और इतिहासकार के रूप में स्थापित करता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ पाठशोध का अनुभव उनकी आलोचना को ऐतिहासिक आधार देता है। इन आरंभिक कृतियों में उनका मार्क्सवादी आग्रह प्रत्यक्ष रूप में नहीं, बल्कि इतिहास को सामाजिक प्रक्रियाओं के रूप में देखने की प्रवृत्ति में दिखाई देता है। यही प्रवृत्ति आगे चलकर उनकी आलोचना का केन्द्रीय आधार बनती है।

उनकी आलोचनात्मक यात्रा का पहला बड़ा पड़ाव 'छायावाद' है। इस पुस्तक ने हिन्दी आलोचना की दिशा बदल दी। उन्होंने पहली बार छायावाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, उसके ऐतिहासिक संदर्भ और उसकी काव्य-भाषा को साथ रखकर उसका विश्लेषण किया। उन्होंने सिद्ध किया कि छायावाद केवल स्वप्नलोक की कविता नहीं, बल्कि राष्ट्रीय चेतना, मध्यवर्गीय आकांक्षाओं और आधुनिक भारतीय मन के गठन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी है।

वह पहले कविता का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं और फिर उससे सिद्धांत की ओर बढ़ते हैं। हिन्दी आलोचना में यह पद्धति अपेक्षाकृत नई थी। उन्होंने किसी पूर्वनिर्धारित विचारधारा को कविता पर आरोपित नहीं किया, बल्कि रचना के भीतर से ही उसके सामाजिक अर्थों की खोज की। यही कारण है कि उनकी मार्क्सवादी आलोचना यांत्रिक न होकर संवेदनात्मक और पाठ-केन्द्रित बनती है।

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' पर उनका विश्लेषण भी इसी दृष्टि का विस्तार है। उन्होंने 'कामायनी' को आधुनिक भारतीय सभ्यता के संकट और उसके पुनर्निर्माण की प्रतीकात्मक कथा के रूप में पढ़ा।

नामवर की आलोचना की सबसे बड़ी शक्ति यह थी कि वह रचना को विचार और कला के द्वंद्वात्मक संबंध में देखते थे। निराला की 'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्तिपूजा' का उनका विश्लेषण इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया। 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' में प्रेमचंद को भारतीय समाज के परिवर्तनकारी लेखक के रूप में देखा। 'कहानी : नई कहानी' में उन्होंने नई कहानी आंदोलन को उसकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक जटिलताओं के साथ समझने का प्रयास किया।

नामवर सिंह की आलोचना का सबसे प्रभावशाली और विवादास्पद ग्रंथ 'कविता के नए प्रतिमान' है। इस पुस्तक ने हिन्दी आलोचना में स्थापित मानदंडों को चुनौती दी। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि क्या नई कविता का मूल्यांकन उन्हीं प्रतिमानों से किया जा सकता है जो छायावाद या प्रगतिवाद के लिए निर्मित हुए थे? उनका उत्तर था—नहीं। प्रत्येक युग अपनी संवेदना के अनुरूप नए प्रतिमानों की मांग करता है।

यहीं उन्होंने मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में' का ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत किया जिसने हिन्दी आलोचना की दिशा बदल दी। उन्होंने 'अंधेरे में' का मूल कथ्य 'अस्मिता की खोज' बताया और प्रतिपादित किया कि कवि की परम अभिव्यक्ति ही उसकी अस्मिता है।

नामवर की आलोचना एक नए मोड़ पर भी पहुंचती है। यहां वह केवल काव्य-पाठ नहीं करते, बल्कि आलोचना की पद्धति पर भी प्रश्न उठाते हैं। उनके अनुसार, आलोचना का काम केवल निर्णय सुनाना नहीं, बल्कि रचना के भीतर छिपी संभावनाओं को उद्घाटित करना है। इसी कारण उन्होंने आलोचना को ₹संवाद₹ का रूप दिया।

इसी क्रम में उनकी बहुचर्चित कृति 'दूसरी परंपरा की खोज' सामने आती है। यह पुस्तक वस्तुतः हिन्दी साहित्य की परंपरा को नए सिरे से देखने का प्रयास है। उन्होंने यह स्थापित करने की कोशिश की कि हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा केवल शास्त्रीय, अभिजात या संस्कृतनिष्ठ परंपरा नहीं है; उसके समानांतर लोक, भक्ति, कबीर, निर्गुण चेतना और सामाजिक प्रतिरोध की एक दूसरी धारा भी निरंतर सक्रिय रही है। इस स्थापना के पीछे भारतीय समाज की बहुलतावादी संरचना और इतिहास-बोध की नई समझ काम कर रही थी। यहीं उनका सबसे गंभीर वैचारिक संवाद रामविलास शर्मा से दिखाई देता है। दोनों ही मार्क्सवादी आलोचक थे, किंतु उनकी प्राथमिकताएं भिन्न थीं। रामविलास शर्मा इतिहास, भाषा और राष्ट्रवादी परंपरा के अधिक बड़े व्याख्याकार थे, जबकि नामवर रचना-केन्द्रित आलोचना और पाठ की बहुअर्थी संरचना पर अधिक बल देते थे। मुक्तिबोध के मूल्यांकन से लेकर परंपरा की अवधारणा तक दोनों के बीच उल्लेखनीय मतभेद रहे। किंतु यह भी सत्य है कि हिन्दी आलोचना का वैचारिक स्तर इन दोनों की बहसों से समृद्ध हुआ।

इतिहास-बोध के संबंध में भी नामवर सिंह की दृष्टि उल्लेखनीय है। 'इतिहास और आलोचना' तथा 'साहित्यिक इतिहास क्यों और कैसे?' जैसे निबंधों में उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता पर बल दिया। नामवर सिंह की सबसे बड़ी विशेषताओं में उनकी वाचिक परंपरा भी शामिल है। वह असाधारण वक्ता थे। उनके व्याख्यानों में गंभीर सिद्धांत भी सहज भाषा में प्रस्तुत होते थे। वह कठिन से कठिन साहित्यिक प्रश्न को संवाद में बदल देते थे। यही कारण है कि उनके अनेक भाषण बाद में पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुए। 1959 में उन्होंने कहा था कि आधुनिक साहित्य जितना जटिल नहीं है, उससे कहीं अधिक उसकी जटिलता का प्रचार किया गया है।

नामवर सिंह हिन्दी आलोचना के एक युग का नाम हैं। ऐसा युग जिसने साहित्य को इतिहास से, समाज को भाषा से और आलोचना को संवाद से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया

किन्तु नामवर सिंह का व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली था, उतना ही विवादास्पद भी। उनकी आलोचना पर समय-समय पर कई प्रश्न उठे। एक आरोप यह रहा कि उन्होंने अपनी वाचिक प्रतिभा के बल पर जितनी प्रतिष्ठा अर्जित की, उतना व्यवस्थित लिखित आलोचना-साहित्य नहीं दिया। हिन्दी का एक बड़ा वर्ग मानता है कि यदि वह अपनी मौखिक ऊर्जा का अधिक भाग लेखन में लगाते, तो हिन्दी आलोचना की विरासत और अधिक समृद्ध होती।

दूसरा प्रश्न उनके वैचारिक परिवर्तन और साहित्यिक संबंधों को लेकर उठता है। अपने लंबे सार्वजनिक जीवन में उन्होंने अनेक लेखकों के संबंध में समय-समय पर अलग-अलग टिप्पणियां कीं। उनके प्रशंसकों ने इसे आलोचक की खुली दृष्टि कहा, जबकि आलोचकों ने इसे अवसरवाद या वैचारिक लचीलापन माना। यह भी कहा गया कि वह साहित्यिक सत्ता-संरचनाओं के केन्द्र में रहे और हिन्दी जगत में प्रतिष्ठा तथा उपेक्षा—दोनों के निर्माण में उनकी भूमिका प्रभावशाली रही। यह आरोप कितना सही है, इस पर मतभेद हो सकते हैं, लेकिन यह निर्विवाद है कि नामवर सिंह केवल आलोचक नहीं, हिन्दी साहित्य के सांस्कृतिक नेतृत्व का भी एक प्रमुख चेहरा थे। आलोचनाओं के बावजूद नामवर सिंह की ऐतिहासिक भूमिका कम नहीं हो जाती। उन्होंने हिन्दी आलोचना को केवल निर्णयात्मक कर्म नहीं रहने दिया; उसे विचार, बहस, संवाद और पुनर्विचार की प्रक्रिया बनाया। उन्होंने स्थापित मान्यताओं पर प्रश्न उठाने का साहस दिया। उन्होंने दिखाया कि आलोचना किसी मत की दास नहीं, बल्कि सतत आत्मपरीक्षण की विधा है।

उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि शायद यही है कि उन्होंने हिन्दी आलोचना को जीवंत बनाए रखा। आज जब हिन्दी आलोचना अनेक प्रकार के वैचारिक ध्रुवीकरण, संस्थागत दबावों और बाजारवादी प्रवृत्तियों से जूझ रही है, तब नामवर सिंह का पुनर्पाठ और भी आवश्यक हो जाता है। उन्हें न तो अचूक आलोचक मानकर पूजना चाहिए और न ही केवल विवादों के आधार पर खारिज करना चाहिए। उनकी उपलब्धियां जितनी बड़ी हैं, उनके अंतर्विरोध भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। वस्तुतः इन्हीं अंतर्विरोधों के भीतर उनकी आलोचना का वास्तविक व्यक्तित्व निर्मित होता है।

इस अर्थ में नामवर सिंह हिन्दी आलोचना के एक युग का नाम हैं—ऐसा युग जिसने साहित्य को इतिहास से, समाज को भाषा से और आलोचना को संवाद से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उनकी आलोचना से असहमति संभव है, किंतु उसे नज़रअंदाज़ करना संभव नहीं। यही किसी बड़े आलोचक की सबसे बड़ी पहचान होती है। ■

Published Date 19 July, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

यहां पान अब भी बरज में ही उपजता है

चार दशकों में पान की खेती में व्यापक परिवर्तन हुआ है, किंतु बंगाल के तामलुक के किसानों ने बरज की मूल संरचना को नहीं छोड़ा है

चन्दन सिन्हा

बांस, लकड़ी, सरकंडे और फूस से चारों ओर लगभग पांच फुट ऊंची बाड़ें और ऊपर बने छाजन से तेज धूप, वर्षा और हवा से पान की नाजुक बेलों की रक्षा होती है। करीब दो फुट के अंतर पर पांतों में लगी बांस की पतली बल्लियों या डोरियों के सहारे पान की बेलों को चढ़ाया जाता है

तामलुक आए हुए मुझे कुछ महीने हो गए थे। बरसात झमाझम बरसकर जा चुकी थी और 1995 के अक्तूबर का महीना भी विदा होने को था। हर दिन प्रातः तथा संध्या के पश्चात गांवों के चूल्हों से उठते धुएं के अलावा खेतों और सड़कों पर हल्का कोहरा भी तैरने लगा था। जिला भूमि और भूमि संस्कार अधिकारी के रूप में मेरा अधिकतर समय क्षेत्र का दौरा करने में बीतता था तथा आते-जाते मैं पश्चिम बंगाल के इस अति उर्वर क्षेत्र के बारे में नई-नई बातें भी जानता-सीख रहा था।

मानसून के अलावा कई नदियों तथा दो बड़ी नहरों से सिंचित यह इलाका धान के उत्पादन के लिए जाना जाता था। पर ऐसा नहीं था कि इस इलाके में केवल धान की खेती होती थी। हां, केवल धान उगाने वाले कृषक जरूर वर्ष में तीन फसल काट लेते थे। मगर मैंने पाया कि धान के अलावा यहां और भी बहुत कुछ होता है।

अक्तूबर के अंतिम सप्ताह में एक दिन नंदकुमार चौराहे से आगे बढ़ने पर रास्ते के किनारे मैंने कुछ खेत देखे, जो लगभग पांच फुट ऊंचे बांस और लकड़ी के सघन बाड़ों से घिरे थे तथा ऊपर से भी फूस से आच्छादित लग रहे थे। इस घेरे के अंदर से हरियाली झलक रही थी। मैं समझ नहीं पाया कि इन खेतों में आखिर उपजाया क्या जा रहा है।

उनकी ओर इशारा करते हुए मैंने ड्राइवर से पूछा, 'ओखाने की चाश होच्चे? (वहां क्या उगाया जा रहा है?)' ड्राइवर ने बिना सिर घुमाए बताया, 'सार, पान चाश होच्चे। ओ गुलो पानेर बरोज। आपनी देखबेन? (सर, वहां पान की खेती हो रही है। वो पान के बरज हैं। क्या आप देखेंना चाहेंगे?)'

अब पान ऐसी चीज है जिसका पूरे भारत में तो प्रचलन है ही पर पूर्वी भारत में यह विशेष रूप से लोकप्रिय है। पूर्वी उत्तर प्रदेश से चलकर बिहार, झारखंड, ओडिशा, असम से होते हुए त्रिपुरा तक, जिधर निकल जाएं ऐसा कोई चौक न मिलेगा जहां पान की तीन-चार दुकानें धुंआधार धंधा न कर रही हों और जिनके आसपास लाल और कत्थई छटा न बिखरी हो।

1990 के दशक तक इन राज्यों में गांव हो या शहर, हर श्रेणी के लोग यदा-कदा या फिर आदतन पान का सेवन करते थे या करना चाहते थे। चूंकि पान के पत्तों को शुभ मानकर हर पूजा में इसे जगह दी गई है और इसकी पाचक क्षमता का गुण गान हम सब छुटपन से ही सुनते चले आए हैं, पहले यह मान लिया जाता है कि सभी को पान खाना चाहिए, लेकिन फिर यह भुला दिया जाता है कि पान बहुधा जर्दा सेवन का बहाना हुआ करता है।

पश्चिम बंगाल में पान चबाना एक अत्यंत ही आम तथा स्वीकृत शगल है। मैंने देखा था कि मेदिनीपुर जिले में यह समझा जाता है कि अगर आप बालिग हैं तो पान के सेवन अवश्य ही करते होंगे। इसलिए किसी के घर जाने पर चाय या जलपान पेश करने से पहले आपको एक गिलास पानी जरूर दिया जाता था ताकि आप कुल्ला करके मुंह साफ कर लें।

बहरहाल, मैंने नजदीक से पान का बरज नहीं देखा था, इसलिए ड्राइवर के पूछने पर गाड़ी रोकने को कहा। समीप जाकर देखा तो पाया कि वस्तुतः बांस, लकड़ी, सरकंडे तथा फूस से चारों ओर लगभग पांच फुट ऊंची बाड़ें और ऊपर छाजन बनाया गया था। इससे तेज धूप, वर्षा और हवा से पान की नाज़ुक बेलों की रक्षा होती है तथा भीतर आर्द्रता और तापमान नियंत्रित रहता है।

> पान का पौधा बहुत ही कोमल होता है। तेज धूप और अत्यधिक पानी इसके लिए घातक हैं। इसके पत्तों को धूप से बचाने के लिए बाड़े पर फूस बिछानी पड़ती है

उस ढंके हुए खेत में करीब दो फुट के अंतर पर पांतों में लगी बांस की पतली बल्लियों अथवा डोरियों के सहारे पान की बेलों को ऊपर की ओर सावधानीपूर्वक चढ़ाया गया था।

पास के खेत में एक किसान बरज के अंदर पान से सजे बाड़ों के बीच घुसकर मटके से सिंचाई कर रहा था। उनसे बात करने पर पता लगा कि पान का पौधा बहुत ही कोमल होता है। तेज धूप पान के नरम पत्तों को जला सकती है और अत्याधिक पानी देने से इसकी बेलों की जड़ें सड़ सकती हैं। इस वजह से जहां एक ओर पान के कोमल पत्तों को धूप से बचाने के लिए बाड़े पर फूस बिछानी पड़ती है, तो दूसरी ओर अधिक पानी न पड़ जाए, इसलिए पान की सिंचाई बहुत सावधानी के साथ पोखर से मटके में जल लाकर की जाती है। पान की सिंचाई की यह पारंपरिक पद्धति अब प्रायः लुप्त हो चुकी है। आज के दौर में सिंचाई के साधनों में उल्लेखनीय आधुनिकीकरण हुआ है। पहले जहां तालाबों से हाथ से पानी लाकर पान की बेलों को सींचा जाता था, आज वहीं पंप, पीवीसी पाइपलाइन, सूक्ष्म सिंचाई साधन, स्प्रेयर और कुछ स्थानों पर सौर ऊर्जा चालित पंपों का उपयोग भी किया जा रहा है।

इस बदलाव से श्रम और जल की बचत तो हुई है, पान की गुणवत्ता और उत्पादकता- दोनों में सुधार भी हुआ है। इसी प्रकार बरज बनाने की सामग्री में भी काफी उन्नति हुई है। प्लास्टिक की महीन जाली, कृत्रिम रस्सियां, गैल्वनाइज्ड तार, तथा आरसीसी के स्तंभों के उपयोग ने पान के बरज को अधिक टिकाऊ, कम श्रमसाध्य और रख-रखाव की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक बना दिया है।

बरज के भीतर लगभग 70 से 90 प्रतिशत आर्द्रता बनाए रखने का प्रयास किया जाता है ताकि नियंत्रित नियमित सिंचाई और वायु-संचार द्वारा एक माइक्रो-क्लाइमेट बनाया जाए जिसमें उच्च गुणवत्ता का पान उगाया जा सके। वैसे तो पान की खेती देश के कई राज्यों में की जाती है- जैसे ओडिशा, बिहार, असम, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, आंध्र प्रदेश और कुछ अन्य कुछ दक्षिणी राज्यों में भी, पर बंगाल के पान की खेती की यह बरज प्रणाली बिल्कुल अनूठी है।

दौरे से वापस तामलुक पहुंचकर मैंने पता किया तो मालूम हुआ कि मेदिनीपुर का यह इलाका (अब पूर्व मेदिनीपुर जिला) पश्चिम बंगाल में पान उत्पादन का सबसे बड़ा क्षेत्र है। यहां बांग्ला, मीठा, सांची, काली बांग्ला तथा सिमुराली बांग्ला जैसी अनेक लोकप्रिय किस्मों की खेती की जाती है। जैसा कि अपेक्षित है, तामलुक पान के व्यापार और विपणन का एक प्रमुख केंद्र भी बन गया है, जहां से पान भारत के विभिन्न राज्यों के अतिरिक्त मध्य-पूर्व और यूरोप के कई देशों तक हवाई मार्ग से भेजा जाता है।

1980-90 के दशक में आरंभ हुए गुटका चबाने के घातक चलन ने पान कृषकों को कुछ तकलीफ दी थी, लेकिन 2012 से गुटका उत्पादन पर लगे प्रतिबंध ने राहत दी। पान के व्यवहार में कुछ कमी हुई, पर पश्चिम बंगाल तथा विशेषकर तामलुक में उच्च स्तर के पान की खेती में तथा इसके खेतिहरों को कोई फर्क नहीं पड़ा है।

पिछले चार दशकों में पान की खेती में व्यापक परिवर्तन हुआ है, किंतु तामलुक के किसानों ने पान के बरज की मूल संरचना को नहीं छोड़ा है, क्योंकि पान की उत्कृष्ट गुणवत्ता के लिए आवश्यक नम, छायादार और संतुलित सूक्ष्म जलवायु का सृजन वही करती है। ■

चन्दन सिन्हा पूर्व भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी, लेखक और अनुवादक हैं। साभार: thewirehindi.com

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तमः

- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या
शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051